॥ तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

वात्स्यायनभाष्यसंवलितम्

न्यायदर्शनम्

[हिन्दीभाषान्तरसहितम्]

प्रथमोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

१. अनुबन्धचतुष्टयप्रकरणम् [१-२]

प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्।

प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्। प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति, जिहासति वा। तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते। सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाऽभिसम्बन्धः। समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति, जहाति वा।

अर्थस्तु—सुखं सुखहेतुश्च, दुःखं दुःखहेतुश्च। सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात्।

प्रथम अध्याय

[प्रथम आह्निक]

प्रमाण से उपादेय, हेय स्वरूप द्विविध अर्थों (इच्छाओं) की प्रतीति होने पर ही कायिक (बाह्य, आभ्यन्तर) प्रयत्नों का सामर्थ्य देखा जाने से प्रमाण सप्रयोजन कहा जाता है।

प्रमाण के विना अर्थप्रतीति नहीं होती, अर्थप्रतीति के विना प्रयत्न-सामर्थ्य नहीं हो सकता। निश्चय ही विज्ञजन प्रमाण से उस अर्थ को यथार्थ जानकर या तो ईप्सित (ग्राह्य) को चाहते हैं या जिहासित (त्याज्य) को छोड़ देते हैं। इस ईप्सा और जिहासा को लेकर जो प्रयत्न किया जाता है वही 'प्रवृत्ति' कहलाता है। इस प्रवृत्ति का फल से अभिसम्बन्ध (फलसाधकत्व) 'सामर्थ्य' कहलाता है। प्रयत्न करता हुआ पुरुष यदि उस अर्थ को चाहता है तो प्राप्त कर लेता है, और छोड़ना चाहता है तो छोड़ देता है।

यह प्रवृत्तिविषय अर्थ चार प्रकार का होता है—१. सुख, २. सुखहेतु, ३. दुःख, ४. दुःखहेतु। इस प्रमाणगम्य अर्थ का वस्तुतः हम संख्या से विभाजन नहीं कर सकते; क्योंकि प्राणियों की संख्या असीम है।

[प्रत्येक प्राणी अपनी स्थिति रखता है, जो अर्थ एक के लिये सुख का साधन हो सकता है, वही दूसरे के लिये दुःख का साधन बन सकता है। जैसे—बकरी के लिये वृक्ष के कोमल पत्र मृदु होने से सुख के साधन (सुखोत्पाद) हैं, परन्तु वे ही ऊँट के लिये दुःखोत्पादक हो जाते हैं। उसी तरह ऊँट के लिये काँटेदार-झाड़ियों के पत्ते सुखोत्पादक हैं, वही बकरी के लिये दुःखोत्पादक। इसी प्रकार एक साधारण गृहस्थ के लिये स्त्री-पुत्रादि सुखोत्पादक हैं, परन्तु वे ही एक संन्यासी के लिये दुःखरूप हैं।

अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता, प्रमेयम्, प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति। कस्मात्? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम्, यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः। चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते।

किं पुनस्तत्त्वम्? सतश्च सद्भावः, असतश्चासद्भावः। सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्च असदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।

कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति? सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत्। यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति; 'यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावान्नास्ति' इत्येवं प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति; 'यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत, विज्ञानाभावान्नास्ति' इति। तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति।

सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते। तासां खल्वासां सद्विधानाम्—

उसी तरह विवेक, वैराग्य आदि से युक्त एक गृहस्थ स्त्री-पुत्रादि को दुःख समझ लेता है और उद्बुद्धपापकर्मा संन्यासी मठ मन्दिरादि के परिग्रह में पड़ जाता है।]

इस सप्रयोजन (अर्थवान्) प्रमाण में प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति—ये तीनों मिलकर होते हैं; क्योंकि इनमें से किसी एक के न होनेपर, अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। जिस पुरुष की ईप्सा या जिहासा को लेकर प्रवृत्ति होती है, वह 'प्रमाता' कहलाता है। वह पुरुष जिस ईप्सा या जिहासा को जिससे याथात्म्येन समझता है, वह 'प्रमाण' कहलाता है। जो अर्थ (ईप्सित या जिहासित) समझा जाता है, वह 'प्रमेय' कहलाता है। उस ईप्सित या जिहासित का यथार्थ ज्ञान ही 'प्रमिति' कहलाता है। इन चार प्रकारों में ही अर्थ का समग्र तत्त्व परिसमाप्त हो जाता है। (अर्थात् इन चारों द्वारा ईप्सित को ग्रहण किया जाता है, जिहासित को छोड़ दिया जाता है या उपेक्षित की उपेक्षा कर दी जाती है।)

यह अर्थ-तत्त्व क्या है? सत् का सद्भाव और असत् का असद्भाव। अर्थात् सत् वह तत्त्व है, जो 'सत्' ऐसा जाना जाते हुए अविरुद्ध (अनुकूल या उदासीन) भी हो और यथार्थ भी हो। इसी तरह 'असत्' वह तत्त्व है, जो 'असत्' ऐसा जाना जाते हुए अनुकूल, उदासीन तथा यथार्थ हो।

अन्तिम पक्ष (असतश्चासद्भावः) के प्रमाण की उपलब्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि जो है ही नहीं, वह हजार प्रमाणों से भी कैसे जाना जा सकेगा? सत् के मिल जानें पर (उपलभ्यमानता सिद्ध रहते हुए) भी उसके न मिलने से वह जाना जा सकेगा, जैसे—प्रदीप से। जैसे द्रष्टा पुरुष दीपक हाथ में लेकर दीखने योग्य (सत्) वस्तु को ग्रहण कर लेने की क्षमता रखते हुए भी उसी दृश्य वस्तु की तरह उस (असत्) को नहीं ग्रहण कर पाता है तो समझ लेता है कि वह नहीं है; क्योंकि वह (असत् वस्तु) होती तो अवश्य उसके द्वारा सत् की तरह जानी जाती; जानी नहीं गयी, इसलिये (योग्यानुपलब्धि प्रमाण से समझता है कि) वह नहीं है। इस तरह प्रमाण द्वारा सत् के जान लिये जाने पर उसकी तरह जो नहीं जाना जाता है तो समझ लिया जाता है कि वह नहीं है, यदि होता तो उसी तरह जाना जाता; जाना न जाने के कारण वह नहीं है। इस प्रकार 'सत्' का ज्ञान करानेवाला (प्रकाशक) प्रमाण 'असत्' का भी ज्ञान करा देता है।

इस 'सत्' का संक्षेप में १६ प्रकार से उपदेश किया जायगा। सत् के इन प्रकारों में से—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

निर्देशे यथावचनं विग्रहः। चार्थे द्वन्द्वसमासः। प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी। तत्त्वस्य ज्ञानम्, निःश्रेयसस्याधिगमः—इति कर्मणि षष्ठ्यौ।

त एतावन्तो विद्यमानार्थाः, येषामविपरीतज्ञानार्थमिहोपदेशः। सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः।

आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यत इति। हेयं तस्य निर्वर्तकम्, हानमात्यन्तिकम्, तस्योपायः, अधिगन्तव्यः—इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।

तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्, संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति? सत्यमेतत्; इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः

---

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति तथा १६. निग्रहस्थान (होते हैं; इन) के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त होता है॥ १॥

इस सूत्र में (प्रमाण से ले कर निग्रहस्थान तक) पदों का विग्रह लक्षणसूत्रोक्त लिङ्गवचन के अनुसार रखना चाहिये। यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' (२-२-२९) इस पाणिनिसूत्र से द्वन्द्वसमास होता है, जिसमें कि सभी पदार्थ प्रधान होते हैं। 'प्रमाण········स्थानानां तत्त्व—' यहाँ शेषषष्ठी समझें ('शेषषष्ठी' उसे कहते हैं जहाँ किसी भी कारक की विवक्षा न हो)। 'तत्त्वस्य ज्ञानम्' तथा 'निःश्रेयसस्य अधिगमः' यहाँ उभयत्र कर्म में षष्ठी समझना चाहिये।

ये इतने विद्यमान (सत्) अर्थ हैं, जिनके अविपरीत ज्ञान के लिये इस सूत्र में उपदेश किया गया है। इस प्रकार यह शास्त्र में किये जाने वाले समग्र उपदेश का उद्देश (नाममात्र से संकेत) कर दिया गया है—ऐसा समझना चाहिये।

आत्मा आदि प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति होती है। यह बात अनुपद (१.१.२ सूत्र) में स्पष्ट कर दी जायगी १. हेय (दुःख और उसके उत्पादक अविद्या, तृष्णा आदि), २. आत्यन्तिक हान (जिससे दुःख सदा के लिये क्षीण हो जाय अर्थात् तत्त्वज्ञान), ३. उसके जानने का उपाय (शास्त्र), तथा ४. अधिगन्तव्य (मोक्ष)—इन चार अर्थपदों (पुरुषार्थ-स्थानों) को ठीक से जानकर अधिकारी पुरुष मोक्ष पा जाता है।

शङ्का—सूत्र में संशयादि का पृथक् से पढना निरर्थक है; क्योंकि संशयादि के प्रमाण या प्रमेयों में अन्तर्भूत होते हुए पृथक् से उनकी गणना नहीं होती?

बात तो ठीक है; परन्तु ये चारों विद्याएँ (त्रयी, वार्ता, दण्डनीति, आन्वीक्षिकी) पृथक् विषयबोधक व्यापार वाली है, जिनमें यह चौथी आन्वीक्षिकी (न्यायविद्या) है। जिसके संशयादि पदार्थ पृथग्विषय माने गये हैं। इन संशयादिकों का यदि पृथक् पाठ न करेंगे तो यह आन्वीक्षिकी भी अध्यात्मविद्यामात्र रह जायगी; जैसे कि उपनिषद्। इसलिये यहाँ सूत्रकार द्वारा संशयादि पदार्थों से एक पृथक् ही बोध कराया गया है; क्योंकि इस तर्कशास्त्र का विषय न तो अनुपलब्ध अर्थ है, न

पदार्थाः। तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्, यथा—उपनिषदः। तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते। तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे। यथोक्तम्—'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' (१.१.४१) इति। विमर्शः=संशयः, पक्षप्रतिपक्षौ=न्यायप्रवृत्तिः। अर्थावधारणम्=निर्णयः, तत्त्वज्ञानमिति। स चायं किंस्विदिति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणं ज्ञानं संशयः प्रमेयेऽन्तर्भवन्नेवमर्थं पृथगुच्यते।

अथ प्रयोजनम्। येन प्रयुक्तः प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम्। यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते, तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः, तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते।

कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी=न्यायविद्या, न्यायशास्त्रम्, यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति।

तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनौ।

वितण्डा तु परीक्ष्यते—वितण्डया प्रवर्तमानो वैतण्डिकः। स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते ? सोऽस्य पक्षः, सोऽस्य सिद्धान्त इति वैतण्डिकत्वं जहाति। अथ न प्रतिपद्यते ? नायं लौकिको न परीक्षक इत्यापद्यते। अथापि परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति ? एतदपि तादृगेव; 'यो ज्ञापयति, यो जानाति, येन ज्ञाप्यते, यच्च ज्ञाप्यते'—एतच्च प्रतिपद्यते यदि ? तदा

निर्णीत अर्थ ही, अपितु संशयित अर्थ है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—'विमर्श करके पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का अवधारण 'निर्णय' कहलाता है' (१.१.४१)। विमर्श=संशय। पक्ष प्रतिपक्ष=न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति। अर्थावधारण=निर्णय, तत्त्वज्ञान। 'यह क्या होगा ?'—ऐसा वस्तु में सन्देहमात्र अनिर्णीत ज्ञान ही 'संशय' कहलाता है। इस संशय का वस्तुतः प्रमेय में अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु न्यायशास्त्र की सुलभ प्रवृत्ति के लिये सूत्रकार ने पृथक् पाठ किया है।

प्रयोजन—जिससे प्रेरित होकर पुरुष अर्थ में प्रवृत्त होता है, उसे 'प्रयोजन' कहते हैं। जिस अर्थ को चाहता हुआ या छोड़ने की इच्छा करता हुआ क्रिया प्रारम्भ करता है, उसी (प्रयोजन) से सब प्राणी, सब कर्म तथा सभी विद्याएँ सम्बद्ध हैं। और उसी के अधीन न्याय भी प्रवृत्त होता है।

यह न्याय क्या है ? अनुमानादि प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण (परिशोधन) 'न्याय' (निश्चय) कहलाता है। प्रत्यक्ष तथा आगम से अविरुद्ध अनुमान को 'अन्वीक्षा' कहते हैं। प्रत्यक्ष तथा आगम के बाद का ईक्षण (अनुमान) 'अन्वीक्षा' कहलाता है। उसका आश्रय लेकर जो प्रवृत्त हो उसे ही 'आन्वीक्षिकी', 'न्यायविद्या', या 'न्यायशास्त्र' कहते हैं। और जो अनुमान प्रत्यक्ष तथा आगम के विरुद्ध हो वह 'न्यायाभास' कहलाता है।

उस न्यायविद्या में **वाद** तथा **जल्प** 'प्रयोजन' के साथ रहते हैं। (वाद का प्रयोजन है तत्त्वज्ञान और जल्प का प्रयोजन है विजय।)

वितण्डा पर भी विचार कर लें। शास्त्रार्थ में वितण्डा से प्रवर्तमान पुरुष को 'वैतण्डिक' कहते हैं। यदि वह प्रयोजन पूछे जाने पर 'यह उसका पक्ष है', या 'यह उसका सिद्धान्त है' ऐसा स्वीकार करता है तो अपने वैतण्डिकत्व को ही छोड़ बैठता है। यदि कुछ भी नहीं स्वीकार करता है तो साधारणजन उसे न तो लौकिक समझेंगे, न परीक्षक ही। यदि वह 'परपक्ष का खण्डन' ही अपना

वैतण्डिकत्वं जहाति। अथ न प्रतिपद्यते ? 'परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनम्' इत्येतदस्य वाक्यमनर्थकं भवति। वाक्यसमूहश्च स्थापनाहीनो वितण्डा, तस्य यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते ? सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति। अथ न प्रतिपद्यते ? प्रलापमात्रमनर्थकं भवति, वितण्डात्वं निवर्तत इति।

अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः—यत्र लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते, स च प्रमेयम्। तस्य पृथग्वचनं च—तदाश्रयावनुमानागमौ। तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमौ, असति च न स्याताम्। तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः। दृष्टान्तविरोधेन च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो भवति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति। नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति, अनभ्युपगच्छन् किंसाधनः परमुपालभेतेति! निरुक्तेन च दृष्टान्तेन शक्यमभिधातुम्—'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्' (१.१.३६), 'तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' (१.१.३७) इति।

'अस्त्ययम्' इत्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः, स च प्रमेयम्। तस्य पृथग्वचनम्—सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति।

साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः

प्रयोजन बतावे ? तो इससे भी उसका वैतण्डिकत्व कहाँ रह पायगा ! क्योंकि यदि वह 'जिसके द्वारा बोध कराया जाता है', 'जो जानता है', 'जो बोध कराया जाता है' या 'जिसको बोध कराया जाता है'—इन चार बातों को स्वीकार कर लेता है तो उसका वैतण्डिकत्व कैसा ? यदि नहीं स्वीकार करता है तो उसका 'परपक्षखण्डन मेरा प्रयोजन है'—यह वाक्य निष्प्रयोजन हो जायगा। (स्वपक्ष) स्थापनाहीन वाक्यसमूह '**वितण्डा**' कहलाता है। यदि वैतण्डिक वाक्य का अभिधेय स्वीकार कर लेता है तो वही उसका पक्ष-स्थापन कहलायगा, यदि नहीं स्वीकार करता है तो शास्त्रार्थ में उसका सब कुछ कहा-सुना प्रलापमात्र तथा निरर्थक होगा, वितण्डात्व कहाँ रहेगा !

अब **दृष्टान्त** का निरूपण करते हैं—प्रत्यक्ष (प्रमाणमात्र) से जहाँ साध्य अर्थ को लौकिक स्वीकार करते हैं वह 'दृष्टान्त' कहलाता है, अर्थात् जहाँ लौकिक परीक्षकों की बात न कट पाये। वह भी प्रमेय के ही अन्तर्भूत है। उसको सूत्र में पृथक् इसलिये पढ दिया गया कि अनुमान और आगम प्रमाण उसके अधीन हैं—उसके होने पर वे होंगे, उसके न होने पर नहीं होंगे। न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति भी तदाश्रित ही है। विरुद्ध दृष्टान्त से परपक्ष का खण्डन किया जाता है, तथा अनुकूल दृष्टान्त से स्वपक्ष-समर्थन। नास्तिक पुरुष यदि शास्त्रार्थ में दृष्टान्त का सहारा लेगा तो वह अपना 'नास्तिकत्व' ही खो बैठेगा, यदि सहारा न लेगा तो वह किस साधन से परपक्ष का खण्डन कर पायगा ! दृष्टान्त का निर्वचन करने के लिये हम कह सकते हैं—'साध्य की समानधर्मता से युक्त तद्धर्मभावी दृष्टान्त कहलाता है' (१.१.३६), तथा 'उसके विपर्यय से विपरीत' (१.१.३७)।

प्रमाणजन्य प्रतीति के बाद 'यह प्रमाण का विषय है' या 'ऐसा ही है'—इस तरह स्वीक्रियमाण अर्थ **सिद्धान्त** कहलाता है। यह भी प्रमेय है। सिद्धान्तों के भिन्न होने पर ही वाद, जल्प, वितण्डा (इन प्रमेयों) की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। इसलिये सिद्धान्त को एक पृथक् प्रमेय माना है।

पाँचों अवयवों द्वारा ज्ञापनीय अर्थ का जितने शब्दसमूह से विशेष प्रत्यय हो जाय, उस शब्दसमूह के प्रतिज्ञादि पाँचों अवयव समूह की अपेक्षा से **अवयव** कहलाते हैं। इन अवयवों में ही

समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवायः आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयनमुपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति। एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था। ते चैतेऽवयवाः शब्दविशेषाः सन्तः प्रमेयेऽन्तर्भूताः, एवमर्थं पृथगुच्यन्त इति।

तर्को न प्रमाणसंगृहीतः, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते। तस्योदाहरणम्—किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते? आहोस्विदकृतकेन? अथाकस्मिकमिति? एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या ऊहः प्रवर्तते—'यदि कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते? हेतूच्छेदादुपपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः। अथाकृतकेन हेतुना? ततो हेतूच्छेदस्याशक्यत्वादनुपपन्नो जन्मोच्छेदः। अथाकस्मिकम्? अतोऽकस्मान्निर्वर्त्यमानं न पुनर्निवर्त्स्यतीति निवृत्तिकारणं नोपपद्यते, तेन जन्मानुच्छेदः' इति। एतस्मिंस्तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मेति प्रमाणानि प्रवर्तमानानि तर्केणाऽनुगृह्यन्ते। तत्त्वज्ञानविषयस्य विभागात् तत्त्वज्ञानाय कल्पते तर्क इति। सोऽयमित्थम्भूतस्तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनाय, उपालम्भाय चार्थस्य भवतीत्येवमर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भूतोऽपीति।

निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम्। तदवसानो वादः। तस्य पालनार्थं जल्पवितण्डे। तावेतौ तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहत इति। सोऽयं निर्णयः प्रमेयान्तर्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति।

सब प्रमाण एकत्र हो जाते हैं। जैसे—'प्रतिज्ञा' शब्दप्रमाण है, 'हेतु' अनुमान प्रमाण है, 'उदाहरण' प्रत्यक्ष प्रमाण है, 'उपनयन' उपमान प्रमाण है, सभी प्रमाणों का एकार्थ-प्रतिपादन में सामर्थ्यप्रदर्शन 'निगमन' कहलाता है। इन्हीं पाँचों अवयवों के सहारे—वाद, जल्प, वितण्डा की प्रवृत्ति होती है। तत्त्वज्ञानव्यवस्था भी तदधीन है। इन पाँचों अवयवों के वस्तुतः शब्दविशेष ही होने के कारण प्रमेय के अन्तर्भूत होते हुए भी, इसीलिये इनका पृथक् निर्वचन किया गया है।

तर्क न प्रमाणों में अन्तर्भूत हो सकता है, न यह उनसे कोई पृथक् प्रमाण है, अपितु उन प्रमाणों का सहकारिमात्र है, जैसे दीपक चक्षु का सहकारी होता है। उदाहरण—'यह जन्म क्या विनाशी कारण से निष्पन्न होता है, या अविनाशी कारण से अथवा आकस्मिक कारण से?'—इस प्रकार के संशयित अर्थ में सम्भावित कारण और कार्यों के विचार में तर्क उठता है—'यदि विनाशी कारण से जन्म निष्पन्न होता तो कारण के विनाश से जन्म का उच्छेद भी हो ही जायगा, यदि अविनाशी कारण से निष्पन्न होगा तो कारण का नाश कभी न हो पाने के कारण जन्मोच्छेद ही असम्भव हो जायगा, यदि आकस्मिक कारण माना जाय तो अकस्मात् जन्मोच्छेद हो पुनः जन्म निष्पन्न न होगा, इस तरह निवृत्तिकारण न बनने से जन्म का उच्छेद होगा ही नहीं। इस प्रकार की तर्कणा के अवसर पर 'जन्म कर्मनिमित्तक है'—ऐसा प्रमाणों से सिद्ध होता है। इस सिद्धि में तर्क प्रमाणों का सहकारी बनकर तत्त्वज्ञान में सहायक होता है। इसीलिये इस तर्क को वाद में अर्थ की स्थापना तथा प्रतिषेध के लिये आचार्य ने पृथक् निर्दिष्ट किया है। वास्तव में इसका प्रमेय में ही अन्तर्भाव हो जायगा।

प्रमाणों के फल (प्रयोजन) तत्त्वज्ञान को **निर्णय** कहते हैं। किसी भी विषय का निष्कर्ष (निर्णय) निकले—इसी को लेकर 'वाद' किया जाता है। उस (निर्णय) की रक्षा (बाधकहेतुनिवारण तथा साधकहेतुधारण) के लिये ही जल्प तथा वितण्डा का प्रयोग किया जाता है।

वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः पृथगुद्दिष्ट उपलक्षणार्थम्; उपलक्षितेन व्यवहारस्तत्त्वज्ञानाय भवतीति।

तद्विशेषौ जल्पवितण्डे तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थमित्युक्तम् (४.२.५०)।

निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्तीति। जल्पवितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति।

छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थमिति। उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनम्, छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः। जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः, स्वयं च सुकरः प्रयोग इति।

सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता॥

ये दोनों (तर्क और निर्णय) लोकव्यवहार को सफल बनाते हैं। इसलिये आचार्य ने निर्णय का पृथक् उल्लेख किया है। वस्तुतः यह प्रमेय के ही अन्तर्भूत है।

जो **अनेक** वक्ताओं (कम से कम दो) के रहने पर हो, प्रत्येक अधिकृत अर्थ उसका विषय हो, जिसके अन्त में किसी एक विषय के निर्णय पर पहुँचा जाय, ऐसे तर्क तथा पञ्चावयवसहित वाक्यसमूह को **वाद** कहते हैं। आचार्य ने इसे उपलक्षण (ज्ञान) के लिये पृथक् उद्दिष्ट किया है; क्योंकि ज्ञात वस्तु से ही व्यवहार तत्त्वज्ञान के लिये होता है।

अपने आप में कुछ विशेषता रखनेवाले[1] जल्प और वितण्डा तत्त्वनिश्चय-पालन के लिये हैं—ऐसा आगे कहेंगे (४.२.५०)।

निग्रहस्थानों से पृथक् कर उद्दिष्ट हेत्वाभासों का वाद में उपयोग होता है—ऐसा आगे (पञ्चम अध्याय में) कहेंगे। जल्प और वितण्डा निग्रहस्थान है। तात्पर्य यह है कि हेत्वाभासोद्भावन और वाद का तत्त्वनिर्णय में ही प्रयोजन है, वादिविजय में नहीं; क्योंकि एक वाद में सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन सम्भव नहीं है, परन्तु हेत्वाभास ऐसे निग्रहस्थान हैं जिनका वाद से सर्वथा उद्भावन हो सकता है। इसलिये इनका पृथक् उपदेश किया है।

छल, जाति, निग्रहस्थान—इनका उपदेश उपलक्षण के लिये है। उपलक्षित छल, जाति, निग्रहस्थानों का अपने वाक्य में त्याग और दूसरों के वाक्य में प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे द्वारा प्रयुक्त जाति का समाधान विद्वानों के लिये सुलभ है, अपने वाक्य में उसका प्रयोग करना भी उनके लिये सरल है।

इस प्रकार से संशयादि पदार्थ प्रमाण या प्रमेय में अन्तर्भूत होते हुए भी न्यायविद्या का प्रस्थान-भेद बताने के लिये पृथक् पढ़े गये हैं।

यह आन्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादि पदार्थों से विभक्त होती हुई, सभी अन्य विद्याओं के लिये दीपोपम है, सभी लौकिक वैदिक कार्यों की उपकारिका (भृत्यादिवत् सहायिका) है। सभी धर्मों की आश्रय है। इस विद्या का यह संक्षिप्त रूप अर्थशास्त्र के विद्योद्देश में बताया गया है।

---

१. जल्प में छल, जाति, निग्रहस्थान के प्रयोग से अङ्गाधिक्य है, वितण्डा में स्वपक्षस्थापन ही नहीं है—इस तरह ये दोनों क्रमशः अङ्गाधिक्य और अङ्गहानि वाले हैं।

तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमाश्च[1] यथाविद्यं वेदितव्यम्। इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानम्, निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिरिति ॥ १ ॥

तत् खलु निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति? नेत्युच्यते; किं तर्हि? तत्त्वज्ञानात्—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तं प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्त्तते। आत्मनि तावत्—नास्तीति। अनात्मनि-आत्मेति। दुःखे-सुखमिति। अनित्ये-नित्यमिति। अत्राणे-त्राणमिति। सभयेनिर्भयमिति। जुगुप्सिते-अभिमतमिति। हातव्ये-अप्रतिहातव्यमिति। प्रवृत्तौ-'नास्ति कर्म, नास्ति कर्मफलम्' इति। दोषेषु-'नायं दोषनिमित्तः संसारः' इति। प्रेत्यभावे-'नास्ति जन्तुर्जीवो वा, सत्त्व आत्मा वा यः प्रेयात्, प्रेत्य च भवेदिति, अनिमित्तं जन्म, अनिमित्तो जन्मोपरम इत्यादिमान् प्रेत्यभावः, अनन्तश्चेति, नैमित्तिकः सन्नकर्मनिमित्तः प्रेत्यभाव इति, देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां निरात्मकः प्रेत्यभावः' इति। अपवर्गे-'भीष्मः खल्वयं सर्वकार्योपरमः, सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहु भद्रकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यममुमपवर्गं रोचयेत्' इति।

यह 'तत्त्वज्ञान' और 'निःश्रेयसप्राप्ति' उस उस विद्या के अनुसार ही समझना चाहिये। इस आन्वीक्षिकी विद्या (न्यायशास्त्र) में, जो कि अध्यात्म विद्या भी कहलाती है, आत्मा आदि प्रमेयों का तत्त्वज्ञान ही 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है और निःश्रेयसप्राप्ति 'मोक्षप्राप्ति' कहलाती है ॥ १ ॥

तो क्या यह निःश्रेयस (मोक्ष) तत्त्वज्ञान के बाद ही हो जाता है? नहीं! अपितु तत्त्वज्ञानसे—

मिथ्या ज्ञान नष्ट होता है, मिथ्याज्ञान-नाश से दोष नष्ट होते हैं, दोषापाय से प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्ति न होने से जन्म नहीं होता, जन्म न होने से दुःख नहीं होता तथा दुःख के न होने से अपवर्ग (स्वतः सिद्ध) हो जाता है ॥ २ ॥

यहाँ आत्मा से अपवर्ग पर्यन्त प्रमेयों में अनेक तरह का मिथ्याज्ञान रहता है, जैसे—आत्मा 'नहीं है', ऐसा मिथ्याज्ञान; अनात्म पदार्थों में 'आत्मा है' ऐसा; दुःख में 'सुख' ऐसा; अनित्य (देहादि) में 'नित्य' ऐसा; अत्राण (कलत्र पुत्र गेहादि) में 'त्राण' ऐसा; सभय (धन-पुत्र आदि) में 'निर्भय' ऐसा; जुगुप्सित (अस्थि, मांस शोणित, मल, मूत्रादि से युक्त स्वशरीर-परशरीर) में 'प्रशस्त' ऐसा; हातव्य (जन्म आदि संसार) में 'अप्रहातव्य' ऐसा; प्रवृत्ति (पुण्य-पापादि अदृष्ट कर्म) में 'कर्म नहीं है', 'कर्म स्वर्ग नरकादि फलप्रद नहीं है' ऐसा; दोष (राग, द्वेष, मोह) में 'यह संसार दोष के कारण नहीं है' ऐसा; प्रेत्यभाव (मरकर पुनः जन्म लेना) में 'ऐसा कोई जन्तु (पैदा करनेवाला) या जीव (पैदा होनेवाला) नहीं है, तो आत्मा नहीं है जो मरे या मरकर पुनः जन्म ले' ऐसा; 'जन्म में कोई निमित्त (धर्माधर्मादि) नहीं है, मोक्ष भी अनिमित्त (तत्त्वज्ञान के विना ही) होता है', इसलिये 'यह मरना-जीना आदिमान् और अनन्त है', 'यह मरना-जीना स्वभावादिनिमित्तक तो है, पर कर्मनिमित्तक नहीं है', 'यह मरना-जीना, देह, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना (हर्ष-शोक, विषाद) के उच्छेद, प्रतिसन्धान से रहित (क्षणिकविज्ञान-स्वरूप या शून्यरूप) है' ऐसा; मोक्ष के विषय में 'समस्त कार्यों से उपरति निश्चय ही भयजनक होगी, सबसे पृथक् इस अपवर्ग में सभी मनोरञ्जक तथा सुखकर बातें लुप्त हो जायँगी तो कौन बुद्धिमान् सर्वसुखोच्छेद रूप मोक्ष को चाहेगा'—ऐसा (मिथ्या ज्ञान होता है)।

---

१. 'निःश्रेयसाधिगमश्च'-इति पाठः।

एतस्मान्मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः।

रागद्वेषाधिकाराच्चाऽसूयेर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय।

अथ शुभा—शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति। सेयं धर्माय।

अत्र प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ। यथा—अन्नसाधनाः प्राणाः 'अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः' इति।

सेयं प्रवृत्तिः कुत्सितस्याभिपूजितस्य च जन्मनः कारणम्। जन्म पुनः-शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः। तस्मिन् सति दुःखम्। तत्पुनः प्रतिकूलवेदनीयम्-बाधना, पीडा, ताप इति। त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमानाः-संसार इति।

यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति, तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोषापाये

इस मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषय में राग तथा प्रतिकूल विषय में द्वेष होता है।

राग द्वेष का विषय बन जाने से असूया (गुणों में दोषाविष्करण), ईर्ष्या (शत्रु की प्रिय वस्तु की हानि की इच्छा), माया (दम्भ), लोभ (अन्याय से परद्रव्य पाने की इच्छा) आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

दोषों के वशीभूत होकर शरीर से चेष्टा करता हुआ हिंसा, स्तेय, प्रतिषिद्ध मैथुन (परदारागमन) आदि का आचरण करता है। वाणी से चेष्टा करता हुआ अनृत (मिथ्या वचन) परुष (कठोर=दुःखद वचन) सूचना (चुगली करना) असम्बद्ध (ऊटपटांग प्रलाप) आदि का; तथा मनसे चेष्टा करता हुआ परद्रोह (जिघांसा या अपकार), परद्रव्य की इच्छा करना, नास्तिक्य (परलोक नहीं है—ऐसी बुद्धि) का आचरण करता है। यह पापात्मिका प्रवृत्ति अधर्म (अशुभ) के लिये होती है।

अब **शुभ प्रवृत्ति** का वर्णन करते हैं—शरीर से चेष्टा करता हुआ वह मन्वादिपूर्वक या सामान्यतः दान करता है, परित्राण (निरीह प्राणियों की रक्षा), परिचरण (तीर्थाटन या गुरुसेवा) करता है। वाणी से चेष्टा करता हुआ सत्य (यथार्थ), हित (उपकारक), प्रिय (प्रीतिकर) वचन बोलता है। मन से चेष्टा करता हुआ दया (निःस्वार्थ दुःखप्रहाणेच्छा), स्वाध्याय (वेद या पुराण आदि का अध्ययन) करता है। अस्पृहा (लोभत्याग), श्रद्धा (शास्त्र में दृढ विश्वास) रखता है। यह शुभ प्रवृत्ति धर्म (शुभादृष्ट) के लिये होती है।

इस सूत्र में प्रवृत्ति के साधन धर्म और अधर्म को 'प्रवृत्ति' पद से कह दिया गया है। जैसे—'अन्नं वै प्राणाः' इस श्रुति में प्राणों के साधन अन्न को 'प्राण' कह दिया गया।

यह प्रवृत्ति कुत्सित या प्रशस्त जन्म का कारण होती है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि—तीनों के निकाय (सजातीय कुलों) से विशिष्ट प्रादुर्भाव को 'जन्म' कहते हैं। जन्म होने पर दुःख होता है। यह दुःख प्रतिकूलवेदनीय (अहित रूप से अनुभवनीय) होता है। उसे बाधना (व्यथा), पीड़ा, ताप भी कहते हैं। ये मिथ्याज्ञान से लेकर दुःखपर्यन्त धर्म अविच्छिन्न रूपसे जब प्रवृत्त होते हैं तो इसे ही 'संसार' कहते हैं।

और जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, तब मिथ्याज्ञान के न रहने से दोष नष्ट हो

प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये च आत्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति।

तत्त्वज्ञानं तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम्। आत्मनि तावत्-अस्तीति, अनात्मनि-अनात्मेति। एवं दुःखे, अनित्ये, अत्राणे, सभये, जुगुप्सिते, हातव्ये च यथाविषयं वेदितव्यम्। प्रवृत्तौ-'अस्ति कर्म, अस्ति कर्मफलम्' इति। दोषेषु-'दोषनिमित्तोऽयं संसारः' इति। प्रेत्यभावे खलु-'अस्ति जन्तुर्जीवः, सत्त्वः आत्मा वा यः प्रेत्य भवेदिति, निमित्तवज्जन्म, निमित्तवान् जन्मोपरम इत्यनादिः प्रेत्यभावोऽपवर्गान्त इति, नैमित्तिकः सन् प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति, सात्मकः सन् देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्त्तते' इति। अपवर्गे-'शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोग; सर्वोपरमोऽपवर्गः, बहु च कृच्छ्रं घोरं पापकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति। तद्यथा-मधुविष-सम्पृक्तान्नमनादेयमिति, एवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयम्' इति॥ २॥

२. प्रमाणप्रकरणम् [३-८]

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य 'यथा-लक्षणमुपपद्यते न वा' इति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा। तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते, यथा-प्रमाणानां प्रमेयस्य च। उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च विभागवचनम्, यथा छलस्य-'वचन-विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याच्छलम्, तत्त्रिविधम्' (१.२.५१-५२) इति।

जायँगे दोषनाश से प्रवृत्ति नहीं होगी, प्रवृत्ति न होने से जन्म नहीं होगा, जन्म न होने से दुःख नहीं होगा तथा दुःख के न होनेपर आत्यन्तिक (ऐकान्तिक) अपवर्ग 'निःश्रेयस' (मोक्ष) हो जाता है।

तत्त्वज्ञान का व्याख्यान मिथ्याज्ञान के व्याख्यान से उलटा किया गया है। जैसे—आत्मा के विषय में 'है' ऐसा, अनात्म पदार्थों में 'अनात्मा' ऐसा। इसी तरह दुःख, अनित्य, अत्राण, सभय, जुगुप्सित तथा हातव्य के बारे में भी विषय के अनुसार समझना चाहिये। प्रवृत्ति के विषय में—'कर्म है', 'कर्मों का फल है' ऐसा; दोषों के बारे में 'यह संसार दोषों से उत्पन्न है' ऐसा; पुनर्जन्म के बारे में—'है ऐसा जीव या जन्तु सत्त्व या आत्मा, जो मरकर पुनः जन्म ग्रहण करे' ऐसा, 'जन्म की उपरति भी निमित्त कारणवाली है, अतः यह मरना-जीना प्रवाहरूप से अनादि होते हुए मोक्षपर्यन्त है' ऐसा, 'यह मरना-जीना नैमित्तिक होता हुआ प्रवृत्तिनिमित्तक है' ऐसा; 'सात्मक होता हुआ देह, इन्द्रिय, बुद्धि वेदना की सन्तति (निरन्तर प्रवाह) से उच्छेद और प्रतिसन्धान द्वारा प्रवृत्त होता है' ऐसा; अपवर्ग के विषय में—'यह सभी से नाता टूटना बहुत ही शान्त है, सब तरह से छुटकारा पा जाना अपवर्ग है, इससे बहुत ही कठिन और भयानक पाप विनष्ट हो गये, कौन बुद्धिमान् ऐसे सब दुःखों तथा उनकी अनुभूति से छुटकारा दिलानेवाले अपवर्ग को न चाहेगा! जैसे जहर मिला हुआ मीठा भोजन नहीं खाया जाता, वैसे ही दुःखानुषक्त सुख भी नहीं चाहा जाता'॥ २॥

उद्देश, लक्षण, परीक्षा—यों तीन प्रकार से इस शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। उनमें केवल नाम लेकर पदार्थ का गिनाना 'उद्देश' कहलाता है। उद्दिष्ट (नाममात्र से गिनाये गये) का स्वरूपभेदक धर्म 'लक्षण' कहलाता है। लक्षित (स्वरूपभेदक धर्मवान्) का 'यह लक्षणानुसारी है या नहीं'—इसका

अथोद्दिष्टस्य विभागवचनम्—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि॥ ३॥

अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः=प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु-सन्निकर्षः, ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।

अनुमानम्-मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्।

उपमानम्-सारूप्यज्ञानम्[१], 'यथा गौरेवं गवयः' इति। सारूप्यं[२] तु सामान्ययोगः।

शब्दः-शब्द्यतेऽनेनार्थ इत्यभिधीयते=ज्ञाप्यते।

'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' इति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम्। 'प्रमीयतेऽनेन' इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः। तद्विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम्।

किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते? अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति? उभयथा दर्शनम्—'अस्त्यात्मा' इत्याप्तोपदेशात् प्रतीयते, तत्रानुमानम्—'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् (१.१.१०) इति, प्रत्यक्षम्—युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः

प्रमाणों से निश्चय करना 'परीक्षा' कहलाती है। यह विभाग पुनः दो प्रकार का है—१. जो उद्दिष्ट तथा प्रविभक्त हैं उनका लक्षण कहा जाता है, जैसे—प्रमाण और प्रमेयों का। २. तथा जो उद्दिष्ट तथा लक्षित हैं उनका विभाग कहा जाता है, जैसे—छल का विभागवचन (१.२.५१-५२)।

अब यह उद्दिष्ट का विभागवचन है—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण (हैं)॥ ३॥

प्रत्यक्ष—इन्द्रिय की प्रत्येक विषय को लेकर वृत्ति ही **'प्रत्यक्ष'** कहलाती है। सन्निकर्ष या प्रमिति ही यहाँ 'वृत्ति' पद का वाच्य है। जब सन्निकर्ष होगा तभी ज्ञान होगा; वही प्रमिति है, और तब हान (त्याग), उपादान (ग्रहण) या उपेक्षा बुद्धि रूप फल निष्पन्न होगा।

अनुमान—व्याप्ति या पक्षधर्मता से प्रमित लिङ्ग (हेतु) द्वारा लिङ्गी (ज्ञाप्य) अर्थ के पश्चात् (प्रत्यक्षानन्तर हुए) मान को 'अनुमान' कहते हैं।

उपमान—सादृश्यज्ञान को **'उपमान'** कहते हैं। 'जैसी यह गौ है ऐसा ही गवय होता है'। सारूप्य से तात्पर्य है सामान्य (सादृश्य) सम्बन्ध।

शब्द—जिस विभक्त्यन्तसमूह से वाक्यार्थबोध होता हो वह **'शब्द'** प्रमाण है।

प्रमाण उपलब्धि के साधन हैं—यह 'प्रमाण' इस समाख्या (नाम) के निर्वचन ('प्रमीयतेऽनेन' इस तृतीया समास) से समझना चाहिये। 'प्रमीयतेऽनेन' (जिसके द्वारा प्रमिति की जाय)—इस व्युत्पत्ति से 'प्रमाण' शब्द करण अर्थ को बतलाता है। तत्तद्विशेष (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) की समाख्या का भी इसी तरह करणव्युत्पत्ति से व्याख्यान समझना चाहिये।

क्या एक एक प्रमेय में कई प्रमाणों का व्यापार होता है? या एक एक का ही? १. कई प्रमाण भी देखे जाते हैं। जैसे 'आत्मा है' इसमें आप्तोदेश (शाब्द) प्रमाण है, 'इच्छा द्वेष, सुख दुःख, प्रयत्न, ज्ञान—ये आत्मा के लिङ्ग हैं' (१.१.१०) यह अनुमान प्रमाण भी है, तथा आत्मा में मनोयोगविशेष करनेवाले को योगसमाधिज प्रत्यक्ष भी होता है अतः हम यह मान सकते हैं कि आत्म-मन के

---

१. 'सामीप्यज्ञानम्'-इति पाठा०। २. 'सामीप्यम्'-इति पाठा०।

संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति। अग्निराप्तोपदेशात् प्रतीयते-'अत्राऽग्निः' इति, प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते। व्यवस्था पुनः-'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति। लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनम्, न प्रत्यक्षम्। स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम्; तत्र न प्रत्यक्षम्, नागमः। पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानम्, नागम इति।

सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते, प्रत्यक्षत[1] उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्त्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणम्-'अग्निः' इति। प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे[1] प्रमाणानां [2]सम्भवोऽभिसम्प्लवः, असम्भवो[3] व्यवस्थेति॥ ३॥

इति त्रिसूत्रीभाष्यम्॥

(क) प्रत्यक्षलक्षणम्

अथ विभक्तानां लक्षणमिति।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ ४॥

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।

न तर्हीदानीमिदं भवति—'आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन' इति?

सम्बन्धविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है। इसी तरह अग्नि के बारे में आप्तोपदेश (वृद्धोपदेश) से 'यह अग्नि है' ऐसा ज्ञान होता है। पर्वत के समीप जानेवाले को धूमदर्शन से अनुमान द्वारा वह्निज्ञान होता है। समीप गये हुए को प्रत्यक्ष भी होता है। २. एक प्रमाण भी देखा जाता है, जैसे—'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र करे' यह शब्दप्रमाण है, यहाँ लौकिकों को अनुमान और प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता। मेघ की गर्जना सुनने पर ध्वनिहेतुक अनुमान ही होता है, न कि प्रत्यक्ष, या शाब्द। हस्तस्थ आमलक के लिये न अनुमान की आवश्यकता है, न शब्द की।

प्रमिति में प्रत्यक्ष प्रधान होता है। जिज्ञासित अर्थ को आप्तोपदेश द्वारा समझकर, हेतुदर्शन से समझने का प्रयास करता है, उससे समझकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता है, प्रत्यक्ष देखकर उपलब्ध अर्थ में (उसकी) जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। इसे समझने के लिये पहला ही उदाहरण रखिये—'अग्नि'।

प्रमाता के प्रमातव्य अर्थ में अनेक प्रमाणों का साङ्कर्य 'अभिसम्प्लव' कहलाता है, तथा उनके असाङ्कर्य को 'व्यवस्था' कहते हैं॥ ३॥

त्रिसूत्री-भाष्यानुवाद समाप्त॥

प्रमाणों का विभाग दिखा दिया, अब उन विभक्तों में से प्रत्येक का लक्षण कर रहे हैं—

इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, जो कि अशाब्द हो, व्यभिचारशून्य हो, तथा विशेष्यविशेषणभावावगाही हो॥ ४॥

प्रत्यक्षलक्षण—इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को **प्रत्यक्ष** मानते हैं।

१-१. क्वचित्रास्ति। २. 'सङ्करः'-इति पाठा०। ३. 'असङ्करः'-इति पाठा०।

नेदं कारणावधारणम्-एतावत्प्रत्यक्षे कारणमिति, किन्तु विशिष्टकारणवचनमिति। यत्प्रत्यक्ष-ज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते; यत्तु समानमनुमानादिज्ञानस्य, न तन्निवर्त्तत इति।

मनसस्तर्हीन्द्रियेण संयोगो वक्तव्यः? भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यत इति समानत्वान्नोक्त इति।

यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः, अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः। तत्रेदमिन्द्रि-यार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानम् 'रूपम्' इति वा, 'रसः' इत्येवं वा भवति, रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम्, तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम्-'रूपमिति जानीते, रस इति जानीते'; नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते? अत आह-**अव्यपदेश्य**मिति। यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थ-सम्बन्धेऽर्थज्ञानम्, न तत् नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते। गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धेऽस्यार्थ-स्यायं शब्दो नामधेयमिति। यदा तु सोऽर्थो गृह्यते, तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते, तत् अर्थविज्ञानं तादृगेव भवति। तस्य त्वर्थज्ञानस्यान्यः समाख्याशब्दो नास्ति, येन प्रतीयमानं व्यवहाराय कल्पेत, न चाप्रतीयमानेन व्यवहारः। तस्माज्ज्ञेयस्यार्थस्य संज्ञाशब्देनेतिकरणयुक्तेन निर्दिश्यते-'रूपम्' इति ज्ञानम्, 'रसः' इति ज्ञानमिति। तदेवमर्थज्ञानकाले[1] स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते, व्यवहारकाले तु व्याप्रियते। तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति।

तब यह सिद्धान्त सम्भव नहीं है—'आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से'? ऐसा नहीं; क्योंकि हम सभी कारणों का निश्चय नहीं कर रहे हैं कि इतने प्रत्यक्ष में कारण हैं, अपितु विशिष्ट कारण बता रहे हैं। जो प्रत्यक्ष का विशिष्ट कारण है, वह बता दिया गया है; तथा जो सामान्य कारण है, जिनका उपयोग अनुमान आदि ज्ञान में भी होता है, उनका निषेध नहीं किया गया।

विशिष्ट कारण ही जब ग्रहण का प्रयोजक है तो मन इन्द्रिय के संयोग को प्रत्यक्ष में कारण कहना चाहिये? सूत्रकार ने विभक्त किये जा रहे प्रत्यक्ष-लक्षण में एक व्यावर्तक देकर काम चला दिया है, दूसरे कारण (इन्द्रिय-मनःसंयोग) के अनुमान में भी घटित होने से वह प्रत्यक्ष का सामान्य व्यावर्तक नहीं बन सकता। अतः लक्षण में उसे नहीं कहा गया।

शङ्का—अर्थ सदा सर्वत्र नामधेय (संज्ञा) से सम्पृक्त रहते हैं, ऐसा कोई अर्थ नहीं है जो नामधेय से पृथक् रहता हो, तथा अर्थज्ञान से ही लोकव्यवहार चलता है। उस (लोकव्यवहार) में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न '**रूप**' ऐसा या '**रस**' ऐसा ज्ञान होता है, रूप, रस, शब्द आदि विषय के नाम हैं। इससे '**रूप**—ऐसा जानता है', 'रस—ऐसा जानता है' इस प्रकार यह अभेदात्मक ज्ञान व्यवहृत होता है, परन्तु नामधेय शब्द से व्यवहृत ज्ञान शाब्दज्ञान (विषयाभिन्न=सविकल्पक) प्रमाण से सम्बद्ध होता है?

समाधान—इसलिये प्रत्यक्षलक्षण में व्यावर्तक लगाते हैं—'**अव्यपदेश्य**'। अगृहीत शब्दार्थ-सम्बन्ध की दशा में जो अर्थज्ञान होता है वह उसका नामधेय शब्द से व्यपदिष्ट नहीं होता। शब्दार्थसम्बन्ध के गृहीत होने पर भी 'इस अर्थ का यह शब्द वाचक है' ऐसा व्यवहार होता है। जब यह अर्थ गृहीत होता है तो यह ज्ञान पूर्व ज्ञान (जिसमें अर्थ गृहीत नहीं हुआ था) से भिन्न (विशेष) नहीं, वह अर्थ-विज्ञान भी वैसा ही होता है। उस अर्थज्ञान का कोई दूसरा शब्द बोधक नहीं है, जिससे वह प्रतीत होता हुआ व्यवहार में आवे। अप्रतीत से व्यवहार होता नहीं। इसलिये ज्ञेय अर्थ का

---

१. ०भानकाले-पा०।

ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् 'उदकम्' इति ज्ञानमुत्पद्यते, तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते? इत्यत आह-**अव्यभिचारीति**। यद् 'अतस्मिंस्तत्' इति, तद् व्यभिचारि; यत्तु 'तस्मिंतत्' इति, तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति।

दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति-धूम इति वा, रेणुरिति वा; तदेतदिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यते? इत्यत आह-**व्यवसायात्मक**मिति[1]। न चैतन्मन्तव्यम्—आत्ममनःसन्निकर्षजमेवानवधारणज्ञानमिति। चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नाव-धारयति। यथा चेन्द्रियेणोपलब्धमर्थं मनसोपलभते, एवमिन्द्रियेणानवधारयन्मनसा नाव-धारयति। यच्चैतदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं मनसाऽनवधारणं तद्विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयः, न पूर्वमिति। सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः, पश्चान्मनसाऽनुव्यवसायः; उपहतेन्द्रि-याणामनुव्यवसायाभावादिति।

आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम्, अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति?

संज्ञाशब्द के साथ 'इति' (=ऐसा) लगाकर निर्देश किया जाता है—'रूप ऐसा ज्ञान', 'रस ऐसा ज्ञान'। इस प्रकार यही समझिये कि वह समाख्या (अर्थबोधक) शब्द अर्थज्ञानकाल में व्यापृत नहीं होता, परन्तु व्यवहारकाल में व्यापृत हो पाता है। अतः सिद्धान्ततः यह निष्कर्ष निकला कि शब्दरहित अर्थज्ञान ही इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न होता है।

शङ्का—ग्रीष्म काल में पार्थिव उष्णता से मिलकर सूर्य की किरणें चाकचिक्य पैदा करती हुई दूरदेशस्थ पुरुष के नेत्रों के समीप आ जाती हैं, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जल की भ्रान्ति प्रतीति होती है, वहाँ भी प्रत्यक्ष का व्यवहार होने लगेगा?

समाधान—अतः लक्षण में व्यावर्तक शब्द लगाया गया है—'**अव्यभिचारि**'। जो 'तद्भाववान्' में 'तद्' ऐसा ज्ञान 'व्यभिचारि' कहलाता है, तथा जो 'तद्वान्' में 'तत्' ऐसा ज्ञान 'अव्यभिचारि' कहलाता है, वही प्रत्यक्ष है। (मरीचिका में जलप्रतीति प्रत्यक्ष नहीं, अपितु भ्रमप्रतीतिमात्र है।)

शङ्का—पुरुष दूर से अपनी आँखों से देखता हुआ विचार करता है कि 'यह धूम है, या यह धूलि है'; क्या वह इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न संशय-ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलायगा?

समाधान—अतः लक्षण में एक और व्यावर्तक शब्द लगाते हैं—'**व्यवसायात्मक**'। और यह नहीं मान लेना चाहिये कि संशयज्ञान आत्ममनःसन्निकर्षोत्पन्न ही होता है, आँखों से भी प्रमाता विषय को देखता हुआ वहाँ संशय कर सकता है। प्रमाता जैसे इन्द्रिय से उपलब्ध विषय (अर्थ) को मन से ग्रहण करता है, वैसे इन्द्रिय से अर्थ का अवधारण नहीं होता तो मन से भी अवधारण नहीं होगा। इसलिये यह इन्द्रियकृत संशयपूर्वक मन का संशय एक विशिष्ट संशय है, जिसे हम विमर्शमात्र कह सकते हैं, आपका सोचा हुआ पहले वाला (साधारण) संशय नहीं। प्रत्यक्ष के बारे में सर्वत्र यही देखा जाता है कि पहले ज्ञाता को इन्द्रिय का व्यवसाय होता है, फिर मन से उसका अनुव्यवसाय (ज्ञानानन्तर निश्चयात्मक ज्ञान)। विकलेन्द्रिय पुरुषों में अनुव्यवसाय उपलब्ध न होने से हमें यही पद्धति माननी पड़ेगी।

---

१. तथा च 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' इति बौद्धाचार्यैः सम्मतं लक्षणमेव सूत्रभाष्ययोरपि सम्मतमिति तदक्षरतात्पर्यम्।

इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशः; धर्मभेदात्। भौतिकानीन्द्रियाणि नियत-विषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति; मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च, नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति-कारणं वक्ष्यामः (१.१.१६) इति। मनसश्चेन्द्रियभावात्तत्र वाच्यं लक्षणान्तरमिति। तन्त्रान्तर-समाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति। 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्[1]' इति हि तन्त्रयुक्तिः ॥ ४ ॥

व्याख्यातं प्रत्यक्षम्॥

(ख) अनुमानलक्षणम्

अथ तत्पूर्वकं[2] त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ॥ ५ ॥

तत्पूर्वकमिति अनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षो-ऽर्थोऽनुमीयते।

पूर्ववदिति-यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा—मेघोन्नत्या 'भविष्यति वृष्टिः' इति। **शेषवत्** तत्-यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा

शङ्का—तब तो आत्मा और सुख आदि के बारे में एक और विशिष्ट प्रत्यक्ष लक्षण करना पड़ेगा; क्योंकि उनका ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षज नहीं, अपितु मनःसन्निकर्षज है?

कहते हैं—मन के इन्द्रिय होते हुए भी उसका इन्द्रियों से पृथक् उपदेश धर्मभेद से किया गया है; क्योंकि अन्य भौतिक इन्द्रियाँ तो नियतविषय हैं, वे अपने अपने गन्धादि गुण से बाह्य गन्धादि का बोध कराती हैं; पर मन ऐसा नहीं है, वह अभौतिक है, सर्वविषय है। इसको सगुण मान कर इन्द्रियत्व नहीं कहा गया। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर भी युगपत् ज्ञान नहीं होता—इसमें हम मन की सन्निधि या असन्निधि को कारण आगे चल कर (१.१.१६) बतायँगे। मन को इन्द्रिय से आत्मा तथा सुखादि ज्ञान के लिये लक्षणान्तर की आवश्यकता नहीं। अन्य तन्त्रों में मन को भी इन्द्रिय माना गया है, उसका इस तन्त्र (न्यायदर्शन) में खण्डन नहीं किया गया, अतः सूत्रकार को मन का इन्द्रियत्व अभिप्रेत है—ऐसा मान लेना चाहिये; क्योंकि तन्त्रकारों की एक यह भी युक्ति है कि दूसरे मत का यदि हम खण्डन नहीं करते तो वह हमें मान्य है ॥ ४ ॥

प्रत्यक्ष का व्याख्यान कर दिया गया॥

प्रत्यक्ष का निरूपण करने के बाद अब अनुमान का निरूपण करते हैं—

प्रत्यक्षपूर्वक अनुमितिकरण को 'अनुमान' कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् तथा ३. सामान्यतोदृष्ट ॥ ५ ॥

यहाँ 'तत्पूर्वक' इस पद से लिङ्ग (हेतु) लिङ्गी (हेतुमान्) का सम्बन्ध (व्याप्ति)-दर्शन तथा लिङ्गदर्शन—इन दोनों का भी परामर्श कर लेना चाहिये। सम्बद्ध हेतु लिङ्गस्मृति से सम्बद्ध होता है। स्मृति और लिङ्ग-परामर्श व्यापार से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान होता है।

पूर्ववत् उसे कहते हैं जहाँ कारण से कार्य का अनुमान हो, जैसे—मेघों के घिर जाने से 'वर्षा

---

१. तन्त्रयुक्तिरियं बौद्धनैयायिकचक्रवर्तिदिङ्नागकृते 'प्रमाणसमुच्चये' दृश्यते।

२. एतत्पदस्य विस्तृतं व्याख्यानं वार्तिकेऽनुसन्धेयम्।

स्रोतसोऽनुमीयते-'भूता वृष्टिः' इति। **सामान्यतो दृष्टम्**—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चाऽऽदित्यस्य; तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाप्यादित्यस्य व्रज्येति।

अथ वा—**पूर्ववदि**ति, यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा-धूमेनाऽग्निरिति। **शेषव**न्नाम-परिशेषः, स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः, यथा-'सदनित्यम्' एवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यगुणकर्मगुणसंशये-'न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्; न कर्म, शब्दान्तरहेतुत्वात्; यस्तु शिष्यते सोऽयम्' इति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः। **सामान्यतोदृष्टं** नाम—यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते, यथा-इच्छादिभिरात्मा, 'इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद्यदेषां स्थानं स आत्मा' इति।

विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्धे **त्रिविध**वचनं महतो महाविषयस्य न्यायस्य लघीयसा सूत्रेणोपदेशात् परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्यान्यस्मिन् वाक्यलाघवेऽनादरः, 'तथा चाऽयम्[1]' इत्थम्भूतेन वाक्यविकल्पेन प्रवृत्तः सिद्धान्ते, छले, शब्दादिषु च बहुलं समाचारः शास्त्र इति।

होगी' यह अनुमान होता है। **शेषवत्** उसे कहते हैं जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो, जैसे नदी में पहले की अपेक्षा बढ़ा हुआ जल देखकर या नदी को बढ़ी हुई, वेग से बहती हुई देख कर 'वर्षा हुई है' ऐसा अनुमान होता है। **सामान्यतोदृष्ट** वह कहलाता है जिसे पहले कहीं देखा हो, फिर बाद में कहीं देखे तो उसमें गति का अनुमान होता है। जैसे—सूर्य को प्रातः पूर्व में देखा गया और सायंकाल पश्चिम में देखा गया तो अनुमान हुआ 'सूर्य में गति है।'

'अथ वा' से उक्त तीनों पदों का अन्य प्रकार से व्याख्यान का उपक्रम करते हैं—**पूर्ववत्** उसे कहते हैं जहाँ पहले दोनों का प्रत्यक्ष हो चुका हो परन्तु अब लिङ्ग लिङ्गी में किसी एक को देख कर दूसरे का अनुमान किया जाय, जैसे—धूम से वह्नि का। **शेषवत्** उसे कहते हैं जो परिशेष (बाकी बचा) रह जाय। वह है सम्भाव्यमानों में से कुछ का प्रतिषेध कर देने पर बाकी बचे हुओं में कहीं भी सम्भाव्यमान न होने से उक्त प्रतिषेध के बाद अवशिष्ट का ज्ञान। जैसे—'शब्द सत् है, अनित्य भी है' ऐसा निश्चय हो जाने के बाद सन्देह होता है कि हम शब्द को क्या मानें—द्रव्य, गुण या कर्म? तब 'शब्द द्रव्य नहीं है, एक द्रव्य में समवेत होने से', 'शब्द कर्म भी नहीं है, शब्दान्तर का हेतु होने से' इन हेतुओं द्वारा शब्द में द्रव्यत्व तथा कर्मत्व का प्रतिषेध हो गया, शेष बच गया गुण, अतः वहाँ अनुमान होता है—'शब्द गुण है'। **सामान्यतोदृष्ट** वह होता है जहाँ लिङ्ग और लिङ्गी दोनों के ही सम्बन्ध अप्रत्यक्ष हों, परन्तु किसी अर्थविशेष से लिङ्ग के साधारण द्वारा लिङ्गी का ज्ञान हो जाय। जैसे—इच्छादि से आत्मा का 'इच्छादि गुण हैं, गुण द्रव्य में रहते हैं, अतः ये इच्छादि जिसमें रहें वही आत्मा है'—यह अनुमान।

विभाग कर देने से अनुमान का त्रैविध्य ज्ञात हो ही जाता, फिर सूत्र में 'त्रिविधम्' यह पद क्यों दिया? अतिगम्भीर इस महान् न्यायशास्त्र का छोटे छोटे सूत्रों से उपदेश करके ही आचार्य ने लाघव कर दिखाया, फिर इन छोटे छोटे वाक्यों में भी और लाघव करना उन्हें अभीष्ट नहीं था, अतः ऐसे

---

१. 'चायमस्य'-इति पा०।

सद्विषयं च प्रत्यक्षम्, सदसद्विषयं चानुमानम्। कस्मात्? त्रैकाल्यग्रहणात्-त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते-'भविष्यति' इत्यनुमीयते, 'भवति' इति च, 'अभूत्' इति च। असच्च खल्वतीतमनागतं चेति॥ ५॥

(ग) उपमानलक्षणम्

अथोपमानम्—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्॥ ६॥

प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति—'यथा गौरेवं गवयः' इति। किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते, यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यत इति? समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह। 'यथा गौरेवं गवयः' इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानः 'अस्य गवयशब्दः संज्ञा' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति। 'यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी', 'यथा माषस्तथा माषपर्णी' इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधिं भैषज्यायाऽऽहरति। एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति॥ ६॥

लाघव में उनका आदर नहीं है—यह दिखाने के लिये। आचार्य का ऐसा लाघव के प्रति अनादर इस शास्त्र में 'वैसा ही यह है' इत्यादि वाक्यविकल्पों द्वारा सिद्धान्त, छल, शब्द आदि के वर्णनप्रसङ्ग में भी बहुत जगह देखा जाता है।

प्रत्यक्ष केवल वर्तमानविषयक होता है, परन्तु अनुमान वर्तमानविषयक भी होता है, अतीत व अनागत विषयक भी; क्योंकि अनुमान द्वारा त्रैकालिक ज्ञान होता है। तीनों कालों से युक्त अर्थ अनुमान द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं, जैसे 'होगा' यह अनुमान भी हो सकता है, 'है' यह भी हो सकता है, 'था' यह भी। 'असत्' का अनुमान अतीत या अनागत विषयक ही होता है॥ ५॥

इस प्रकार अनुमान का व्याख्यान कर दिया गया॥

अब **उपमान** का निरूपण करते हैं—

(जिससे) प्रसिद्ध (पूर्वप्रमित गवादि) के साधर्म्य (सादृश्य) ज्ञान से साध्य (गवयादि-पदवाच्य) की सिद्धि हो वह 'उपमान' प्रमाण कहलाता है॥ ६॥

प्रज्ञात (प्रसिद्ध गो-आदि) के सादृश्यज्ञान से प्रज्ञापनीय (गवय-आदि) का ज्ञान जिस प्रमाण से कराया जाये—उसे 'उपमान' कहते हैं। 'जैसी गौ ऐसा ही गवय होता है'।

प्रमाता जब गो के सदृश गवय को देखता है तो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण से ही वह ज्ञान हो जाता है, फिर उपमान प्रमाण यहाँ क्या नयी चीज ला देगा? वाक्यार्थश्रोता समानधर्म (सादृश्य) को प्रत्यक्ष कर गवय को देखता ही है। किसी एक शब्द की उसके अर्थ में समाख्या का परिचय होना, यही उपमान का प्रयोजन है—ऐसा सूत्रकार का अभिप्राय है। अर्थात् 'जैसी गौ वैसा गवय होता है' इस उपमान के प्रयुक्त होने पर समानधर्म (सदृश) अर्थ को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (प्रत्यक्ष) से प्राप्त करता हुआ 'इसकी संज्ञा गवयशब्द है' ऐसा संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध उपमान प्रमाण से जान लेता है। 'जैसा मूंग वैसी मुद्गपर्णी' 'जैसा उड़द वैसी माषपर्णी' यह उपमान प्रयुक्त होने पर संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध को जानता हुआ उस औषध को चिकित्साहेतु ले आता है। इसी तरह लोक में व्यवहृत अन्य उपमानों को भी समझना चाहिये॥ ६॥

उपमान प्रमाण का व्याख्यान समाप्त॥

(घ) शब्दलक्षणम्

अथ शब्दः—

आप्तोपदेशः शब्दः[१] ॥ ७ ॥

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः, तया प्रवर्तत इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्तन्त इति।

एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते, नाऽतोन्यथेति ॥ ७ ॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थः। यस्याऽमुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः। एवमृषिलौकिकवाक्यानां विभाग इति।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते? स न मन्येत-दृष्टार्थ एवाऽऽप्तोपदेशः प्रमाणम्, अर्थस्यावधारणादिति; अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणम्, अर्थस्यानुमानादिति ॥ ८ ॥

इति प्रमाणभाष्यम् ॥

अब **शब्द** का निरूपण करते हैं—

आप्त के उपदेश को 'शब्द' प्रमाण कहते हैं ॥ ७ ॥

साक्षात्कृतधर्मा (जिसने सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा अर्थ का निश्चय कर लिया हो), यथादृष्ट (सम्यक्) अर्थ को बतलाने का इच्छा से प्रवृत्त उपदेष्टा पुरुष 'आप्त' कहलाता है। साक्षात्कृत (अर्थ के प्रत्यक्षज्ञान) के पश्चात् प्रवृत्त पुरुष आप्त कहलाता है—'आप्त' का यह लक्षण ऋषि (त्रिकालज्ञ), आर्य (निष्पाप साधारण जन) तथा म्लेच्छ (डाकू-लुटेरे)-तीनों में समान रूप से घट सकता है। (लुटेरे भी घोर जंगल में किसी धनिक को लूट कर उस पर दया कर उसे नगर का सत्य मार्ग बता देते हैं।) इसलिये इन सभी के ऐसे शब्दव्यवहार प्रवृत्ति में सहायक होते हैं।

इस प्रकार इन (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) प्रमाणों से ही सभी देवता, मनुष्य व पशु-पक्षियों के समग्र (लौकिक अलौकिक) व्यवहार चलते हैं, उन व्यवहारों का इनसे भिन्न अन्य कोई साधन नहीं है ॥ ७ ॥

वह (शब्दप्रमाण) दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ रूप से दो प्रकार का होता है ॥ ७ ॥

आप्त प्रयोक्ता द्वारा जिस शब्द का इसी लोक में अर्थ देख लिया गया हो वह 'दृष्टार्थ' कहलाता है। जिस अर्थ की परलोक में प्रतीति हो वह 'अदृष्टार्थ' है। इन दोनों से लौकिक वाक्यों और ऋषिवाक्यों (वेदमन्त्र) का विभाजन किया गया है।

दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ—इस विभाग की क्या आवश्यकता है, सामान्यतः एक शब्दप्रमाण ही क्यों न मान लिया जाय? साधारण पुरुष इतना ही न समझ लें कि जिसका अर्थ इस लोक में प्रत्यक्ष किया जा सके—ऐसा आप्तोपदेश तो प्रमाण है, पर जिस (स्वर्गकामो यजेत-इत्यादि) का अर्थ इस लोक में प्रत्यक्ष न किया जा सके—वह आप्तोदेश प्रमाण नहीं; वस्तुतः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि आप्तोपदेश भी प्रमाण ही है; क्योंकि उसके सहारे अदृष्ट अर्थ अनुमित होता है ॥ ८ ॥

प्रमाणभाष्यानुवाद समाप्त ॥

---

१. बौद्धाचार्यास्तु शब्दोपमानयोर्नातिरिक्तं प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्ति।

३. प्रमेयप्रकरणम् [९-२२]

किं पुनरनेन प्रमाणेनाऽर्थजातं प्रमातव्यमिति? तदुच्यते—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

तत्राऽऽत्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी। तस्य भोगायतनं **शरीरम्**। भोगसाधनानी**न्द्रियाणि**। भोक्तव्या **इन्द्रियार्थाः**। भोगो **बुद्धिः**। सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं **मनः**। शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं **प्रवृत्तिः**, दोषाश्च। 'नाऽस्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च, पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति उत्तरेषामपवर्गोऽन्तः' इति **प्रेत्यभावः**। ससाधनसुखदुःखोपभोगः **फलम्**। **दुःख**मिति नेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्, किं तर्हि? जन्मन एवेदं ससुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गात्, दुःखेनाविप्रयोगाद्, विविधबाधनायोगाद् 'दुःखम्' इति समाधिभावनमुपदिश्यते। समाहितो भावयति, भावयन्निर्विद्यते, निर्विण्णस्य वैराग्यम्, विरक्तस्यापवर्ग इति। जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणम**पवर्ग** इति।

अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, तद्भेदेन चापरिसङ्ख्येयम्। अस्य तु 'तत्त्वज्ञानादपवर्गः, मिथ्याज्ञानात् संसार' इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति ॥ ९ ॥

प्रमेयप्रकरण—इस प्रमाणसमूह से किस अर्थसमूह (प्रमेयसमूह) का ज्ञान करना चाहिये? इसके उत्तर में कहते हैं—

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख एवं अपवर्ग—ये १२ प्रमेय (प्रमाणों से जानने योग्य) हैं ॥ ९ ॥

इनमें **आत्मा** सभी सुख-दुःख-साधनों का द्रष्टा है, सभी सुख-दुःखों का भोक्ता है,, सभी सुख-दुःख-साधनों और सुख-दुःखों को जानता है, तथा अनुभव करता है। उस आत्मा का भोगाधिष्ठान **शरीर** है। **इन्द्रियाँ** भोग के साधन है। **इन्द्रियार्थ** भोगने योग्य होते हैं। भोग **बुद्धि** (साक्षात्कार करनेवाली) है। सभी अर्थों को एक साथ उपलब्ध करने में इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हो सकतीं, अतः **मन** को पृथक् प्रमेय मानना पड़ा। वह सभी (बाह्य-आभ्यन्तर-भेदभिन्न) विषयों का ज्ञानसाधन है। शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, सुख तथा हर्ष भय, शोकादि वेदनाओं के सम्पादनकारण को **प्रवृत्ति** कहते हैं। उपर्युक्तप्रवृत्तिकारण को **दोष** कहते हैं। 'इसका यह अपूर्व शरीर नहीं है, न अनुत्तर शरीर है, पूर्व शरीरों का आदि नहीं है, उत्तर शरीरों का अन्त मोक्ष है'—ऐसा प्रमेय **प्रेत्यभाव** कहलाता है। साधन (स्रक्चन्दनवनिता, तथा धूलिताड़न, निद्रादि) सहित सुख-दुःखों का उपभोग **फल** कहलाता है। **दुःख** यह प्रमेय अनुकूलवेदनीय लक्षणवाले सुख का प्रत्याख्यानमात्र नहीं है; किन्तु साधनसहित सुखवाले मुमुक्षु को जन्म से ही दुःखानुषक्त होने से, दुःख से छुटकारा न पाये जाने से, तथा आध्यात्मिकादि विविध बाधनाओं के लगे रहने से 'यह दुःख है' ऐसी समाधिभावना का उपदेश किया गया है। मुमुक्षु समाहितचित्त होकर भावना करता है कि 'सर्वं खल्विदं दुःखम्', भावना करते हुए उसको इस दुःखरूपी संसार से ग्लानि होती है, ग्लानि होते होते वैराग्य हो जाता है, वैराग्य द्वारा वह **अपवर्ग** (मोक्ष=जन्ममरणरूपी दुःख से छुटकारा) पा जाता है। जन्ममरणप्रवाह का उच्छेद तथा सभी दुःखों का आत्यन्तिक नाश ही 'अपवर्ग' कहलाता है।

यों तो (अन्य शास्त्रों में) प्रमेयों के अन्य भेद भी हैं, जैसे—'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य,

(क) आत्मलक्षणम्

तत्राऽऽत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते। स किमाप्तोपदेशमात्रादेव प्रतिपद्यत इति? नेत्युच्यते; अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति। कथम्?

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्॥ १०॥

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात् सुखमात्मोपलब्धवान्, तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति, सेयमादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद्भवन्ती लिङ्गमात्मनः। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति, देहान्तरवदिति।

एवमेकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः। यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादातुम्प्रयतते, सोऽयं प्रयत्न एकमनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात्। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति, देहान्तरवदिति। एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः।

विशेष, समवाय'—आदि। उनके अवान्तर भेद से प्रमेय के इतने विभाग हो जाते हैं कि उनकी गणना ही कठिन है। यहाँ सूत्रकार को इतना ही अभीष्ट है कि तत्त्वज्ञान से अपवर्ग होता है, और मिथ्याज्ञान से संसार। अतः उन्होंने तदनुकूलतया इस विशेष प्रमेयसमूह का उपदेश कर दिया है॥ ९॥

आत्मा का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता, तो क्या वह केवल आप्तोदेश (शब्दप्रमाण) से ही जाना जायगा? कहते हैं—नहीं; आप्तोदेश के बाद अनुमान से भी उसको समझना चाहिये। कैसे?—

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख, ज्ञान—ये आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग हैं॥ १०॥

प्रमाता जिस जातीय अर्थसन्निकर्ष से सुख प्राप्त करता है, वैसे ही जातीय अर्थ को पुनः देखकर उसे ग्रहण करने की इच्छा करता है, यह ग्रहण करने की इच्छा ही यतः अनेकार्थद्रष्टा के दर्शनान्तर से एकाश्रयता का सन्धान कराती है अतः किसी एक प्रमेय में दर्शनप्रतिसन्धान कराती हुई 'आत्मा है'—इसमें हेतु है। [बात को यों समझें—किसी वस्तु को पुनः पुनः सुखोत्पादक अनुभव कर 'यह वस्तु सुखोत्पादक है, जहाँ यह वस्तु है, वहाँ सुख है'—ऐसा व्याप्तिनिर्धारण करता है। कुछ समय बाद फिर उसी वस्तु को देखकर 'यह पूर्वानुभूत सुखवाली ही वस्तु है' ऐसा स्मरण करता है, तब 'यह सुख देगी'—ऐसा निगमन कर उसे ग्रहण करना चाहता है। इस इच्छा से पहले के व्याप्तिज्ञान, स्मृतिज्ञान तथा निगमन का कोई एक प्रतिसन्धाता होना चाहिये जो इच्छा कर सके, अतः इस इच्छा से अनुमान होता है कि ऐसी इच्छा करने वाला कोई आत्मा है। तात्पर्य यह है कि यह जो एक अनुभविता, स्मर्ता, अनुमाता तथा एषिता है वही नैयायिकों के मत में 'आत्मा' कहलाता है।]

शङ्का—किसी एक ज्ञाता (आत्मा) के न मानने पर भी बुद्ध्यादि के सन्तान (प्रवाह) से भी प्रतिसन्धान-व्यवस्था तो बन ही जायगी फिर एक अतिरिक्त आत्मा मानने से क्या लाभ?

समाधान—बुद्धि के प्रतिनियतविषय होने के कारण प्रतिसन्धान-व्यवस्था सम्भव नहीं है, जैसे वर्तमान बुद्ध्यादिकों का देहान्तर में प्रतिसन्धान नहीं हो पाता।

इसी तरह एक के ही अनेक अर्थों का साक्षात्कर्ता होने के कारण दर्शनप्रतिसन्धि सम्भव होने से दुःखोत्पादक विषय में द्वेष होता है।

इस प्रमाता का जिस तरह का विषय सुखहेतु प्रसिद्ध है, उसी तरह के विषय को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, यह प्रयत्न साक्षात्कर्ता तथा दर्शनप्रतिसन्धिकर्ता के एक हुए विना नहीं हो सकता।

सुखदुःखस्मृत्या चाऽयं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते, दुःखमुपलभते, सुखदुःखे वेदयते। पूर्वोक्त एव हेतुः।

बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति-किंस्विदिति, विमृशँश्च जानीते—इदमिति, तदिदं ज्ञानं बुभुत्साविमर्शाभ्यामभिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गम्। पूर्वोक्त एव हेतुरिति।

तत्र देहान्तरवदिति विभज्यते। यथा अनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते, तथैकदेहविषया अपि न प्रतिसन्धीयेरन्; अविशेषात्। सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयं दृष्टस्य स्मरणम्, नान्यदृष्टस्य, नादृष्टस्येति; एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारः-अन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति; तदेतदुभयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुम्। इत्येवमुपपन्नम्—'अस्त्यात्मा' इति॥ १०॥

(ख) शरीरलक्षणम्

तस्य भोगाधिष्ठानम्—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्॥ ११॥

कथं चेष्टाश्रयः? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा, सा यत्र वर्तते तच्छरीरम्।

कथमिन्द्रियाश्रयः? यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्तन्ते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरम्।

बुद्ध्यादिकों की प्रवाह-व्यवस्था उनके नियत होने से देहान्तर की तरह हो नहीं सकती। इसी तरह दुःखोत्पादविषयक प्रयत्न का व्याख्यान भी समझना चाहिये।

सुख-दुःख-स्मृति से यह प्रमाता उनके साधनों को ग्रहण करता हुआ सुख-दुःख प्राप्त करता है, सुख-दुःख की अनुभूति करता है। इसमें अनुपदोक्त कारण ही समझना चाहिये।

जानने की इच्छा करता हुआ विचार करता है कि यह क्या है, विचार करता हुआ जान जाता है कि यह यह है, जब तक इस बुभुत्सा और विमर्श का एक ही कर्ता न होगा तब तक यह ज्ञान नहीं होगा, अतः मानना पड़ेगा कि इन दोनों का एक ही कर्ता 'आत्मा' है।

'देहान्तरवत्' पद की व्याख्या करते हैं। जैसे अनात्मवादी के मत में नियतविषयक बुद्धिभेद का देहान्तर में प्रतिसन्धान नहीं होता, उसी तरह उभयत्र समान स्थिति होने से एकदेह या अनेकदेहविषयक बुद्धिभेद भी प्रतिसन्धि में असमर्थ ही होंगे। जब यह एक प्राणी का स्वभाव है कि वह स्वयम् अनुभूत का ही स्मरण कर सकता है, न कि अन्य द्वारा अनुभूत या अननुभूत विषय का; तो नाना प्राणियों का भी यही स्वभाव समझना चाहिये कि उनमें अन्य द्वारा देखे गये का स्मरण अन्य नहीं कर सकता। ये दोनों ही बातें अनात्मवादी सिद्ध नहीं कर सकते। अतः यह सिद्ध हो गया कि आत्मा है॥ १०॥

उस आत्मा के भोग का आश्रय—

चेष्टाश्रय, इन्द्रियाश्रय तथा अर्थाश्रय शरीर है॥ ११॥

शरीर चेष्टाश्रय कैसे है? ईप्सित या जिहासित विषय के लिये उसकी ईप्सा या जिहासा में प्रवृत्त पुरुष का उसके अधिगम के लिये किया गया स्पन्दन ही 'चेष्टा' कहलाता है, वह जहाँ रहे, वह शरीर है।

कथमर्थाश्रयः ? यस्मिन्नायतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरमिति ॥ ११ ॥

(ग) इन्द्रियलक्षणम्

भोगसाधनानि पुनः—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्, गन्धं गृह्णातीति। रसयत्यनेनेति रसनम्, रसं गृह्णातीति। चष्टेऽनेनेति चक्षुः, रूपं पश्यतीति। स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचारः स्थानादिति। शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, शब्दं गृह्णातीति। एवं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोध्यम्—स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति।

भूतेभ्य इति। नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमः, नैकप्रकृतीनाम्। सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवतीति ॥ १२ ॥

भूतलक्षणम्

कानिं पुनरिन्द्रियकारणानि ?

पृथ्व्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

वह इन्द्रियाश्रय कैसे है ? इन्द्रियाँ जिसके स्वस्थ रहने पर स्वस्थ तथा अस्वस्थ रहने पर अस्वस्थ रहती हुईं भले-बुरे कर्मों में प्रवृत्त होती हैं, वह इनका आश्रय है, वही शरीर है।

वह अर्थाश्रय कैसे कहलाता है ? जिस अधिष्ठान के रहते इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न सुख दुःख का प्रतिसंवेदन प्रवृत्त होता है, वह इनका आश्रय (अवच्छेदक) है, वही शरीर है ॥ ११ ॥

अब **भोगसाधनों** (इन्द्रियों) का व्याख्यान किया जा रहा है—

१. घ्राण, २. रसन, ३. चक्षु, ४. त्वक्, ५. श्रोत्र—ये भूतप्रकृतिक (भौतिक) इन्द्रियाँ हैं ॥ १२ ॥

जिससे सूंघा जाय—वह **घ्राणेन्द्रिय** है, यह गन्ध का ग्रहण करती है। जिससे स्वाद चखा जाय—वह **रसनेन्द्रिय** है, यह रस का ग्रहण करती है। जिससे देखा जाय—वह **चक्षुरिन्द्रिय** है, यह रूप को देखती है। जिससे स्पर्श किया जाय, जिसका स्थान त्वक् है, वह **त्वगिन्द्रिय** कहलाती है। इस इन्द्रिय का त्वक् स्थान होने से उपचार द्वारा उस स्थान के नाम पर ही इस इन्द्रिय के नाम का व्यवहार किया जाता है। जिससे सुना जाय—वह **श्रोत्रेन्द्रिय** है, यह शब्द सुनती है। इस प्रकार स्व स्व संज्ञाओं के यौगिक निर्वचन के कारण यह समझना चाहिये कि अपने अपने विषय का ग्रहण ही इन्द्रियों का इतर व्यावर्तक लक्षण है।

'**भूतेभ्यः**' पद में बहुवचन इसलिये है—इन इन्द्रियों को नानाप्रकृतिक मानने पर ही इनमें विषय-नियम बनेगा, एकप्रकृतिक मानने पर नहीं। तथा विषय-नियम होने से ही इनमें स्वविषय-ग्रहण लक्षण घटेगा ॥ १२ ॥

इन इन्द्रियों की प्रकृतियाँ (कारण) क्या हैं ?

१. पृथिवी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु तथा ५. आकाश—ये 'भूत' (इन्द्रियकारण) कहलाते हैं ॥ १३ ॥

संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशः—विभक्तानां भूतानां सुवचं कार्यं भविष्यतीति ॥ १३ ॥

(घ) अर्थ(विषय)लक्षणम्

इमे तु खलु—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्था विषया इति[१] ॥ १४ ॥

(ङ) बुद्धिलक्षणम्

अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्ति चेतनस्याकर्तुरुपलब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इवेदमाह—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति। तद्धि चेतनं स्यात्, एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसङ्घातव्यतिरिक्त इति ? प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यान्यार्थप्रकाशन[२]मुपपत्तिसामर्थ्यादिति ॥ १५ ॥

विशेष संज्ञाओं से भूतों का पृथक् उपदेश इसलिये किया गया है कि इस प्रकार भेदों से ज्ञात इन भूतों की प्रमिति भली भाँति हो सकेगी ॥ १३ ॥

१. गन्ध, २. रस, ३. रूप, ४. स्पर्श, तथा ५. शब्द—ये पृथिवी आदि भूतों के गुण हैं, उनके विषय (अर्थ) हैं ॥ १४ ॥

पृथिवी आदि पाँचों भूतों का यथासम्बन्ध गुण तथा इन्द्रियों का यथाक्रम **विषय** समझना चाहिये ॥ १४ ॥

''त्रैगुण्य का विकार होने से बुद्धि स्वयम् अचेतन होती हुई भी पुरुषगत चैतन्य की छाया पड़ने के कारण चेतन की तरह आभासित होती है, उस चैतन्याभास से वह स्वयं प्रकाशित होती है तथा अचेतन, अकर्ता पुरुष की उपलब्धि प्रकाशित करती है'—ऐसा साङ्ख्यकार का मत है, यहाँ अचेतन बुद्धि का व्यापार ज्ञान तथा वह भी अकर्ता चेतन को उपलब्ध कराना—यह युक्तिविरुद्ध बात है। इसी का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान—ये अनर्थान्तर (पर्याय) हैं। (इन पर्यायों से जो पदार्थ कहा जाय वह 'बुद्धि' है) ॥ १५ ॥

पुरुषगत चैतन्य के अपरिणामी होने से उसकी छाया बुद्धि में नहीं पड़ सकती, अतः बुद्धि में ही चैतन्य मानना पड़ेगा। यदि ऐसा है तो ज्ञान के प्रति बुद्धि और पुरुषचेतनद्वय का व्यापार अपेक्षित है, केवल बुद्धि से ज्ञान नहीं होगा; जबकि देहेन्द्रियसङ्घात से अतिरिक्त एक ही चेतन माना गया है ? उपपत्तिसामर्थ्य से इस प्रमेयलक्षणार्थक वाक्य (सूत्र) का दूसरे (साङ्ख्यकार) के मत-खण्डन में भी तात्पर्य है।

[पर्याय शब्द कह देने मात्र से लक्षणाभिधान नहीं हुआ—ऐसा कुछ लोग कह सकते हैं, उनको यही उत्तर देना चाहिये कि लोक में दो तरह से पदाभिधान होता है, कुछ पद प्रतिव्यक्ति संकेतित किये जाते हैं, जैसे—पिता अपने पुत्रों का पृथक् पृथक् नामकरण करता है; या अनेक व्यक्ति

---

१. एतद्भाष्यव्याख्याने वार्त्तिकतात्पर्यकारयोररुचिर्दृश्यते, तदभिमतव्याख्यानं तु तत्र तत्रैव द्रष्टव्यम्।

२. साङ्ख्यमतनिराकरणरूपम्।

(च) मनोलक्षणम्

स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। तेषु सत्स्वियमपि—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ १६ ॥

अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति। युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते, तेनानुमीयते—अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगि सहकारि निमित्तान्तरमव्यापि, यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानम्, सन्निधेश्चोत्पद्यत इति। मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति॥ १६ ॥

(छ) प्रवृत्तिलक्षणम्

क्रमप्राप्ता तु—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः॥ १७॥

मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः। सोऽयमारम्भः—शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः। तदेतत्कृतभाष्यं द्वितीयसूत्र इति॥ १७॥

(ज) दोषलक्षणम्

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः॥ १८॥

को सामान्यतः एक नाम दे दिया जाता है, जैसे—गौ आदि। दूसरे प्रकार में अभिधेय के लिये केवल पर्याय से कह देना भी अभिधेय-ज्ञान के लिये पर्याप्त होता है, लक्षणकरण का यह भी प्रयोजन है। प्रकृत में उपलब्धि तथा ज्ञान का अर्थ सर्वप्रसिद्ध है, इसलिये उन्हें बुद्धि का पर्याय कह देने से बुद्धिस्वरूप ज्ञात हो जाता है। इस युक्ति से बुद्धि का लक्षण भी बता दिया गया है]॥ १५॥

स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, ऊह, सुख आदि का प्रत्यक्ष, तथा इच्छा आदि ये मन के लक्षण हैं; इनके साथ साथ यह भी है कि—

मन को अतिरिक्त प्रमेय मानने से ही युगपद् ज्ञान बन पायगा॥ १६॥

बाह्येन्द्रियाँ स्मृत्यादिक की निमित्त नहीं बन सकतीं, अतः कोई न कोई अन्य कारण उनका निमित्त मानना पड़ेगा; दूसरे, घ्राणादि तथा गन्धादि का युगपत् सन्निकर्ष होने पर सभी ज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं होंगे, अतः यह अनुमान होता है कि अवश्य कोई अन्य तदिन्द्रिय-संयोगी, सहकारी, अव्यापी निमित्त है जिसकी सन्निधि (सामीप्य) के विना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता, तथा सन्निधि होने पर उत्पन्न हो जाता है। यह अनुमान ही मन की सत्ता में हेतु है। दूसरी बात यह भी है कि यदि बाह्येन्द्रियों के साथ मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न रखेंगे तो अनेक ज्ञान एक साथ उत्पन्न होने लग जायँगे॥ १६॥

क्रमप्राप्त (**प्रवृत्ति** का लक्षण कर रहे हैं)—

वाणी, बुद्धि (मन), शरीर से किये जाने वाले कार्य प्रवृत्ति कहलाते हैं॥ १७॥

सूत्र में '**बुद्धि**' शब्द से मन अभिप्रेत है '**जिससे जाना जाय**' वह बुद्धि (अर्थात् मन) है। शरीर वाणी मन से, पुण्य तथा पाप रूप में कार्य दश प्रकार का होता है। इसका विशद वर्णन पीछे द्वितीय सूत्र (दुःखजन्मप्रवृत्ति······) में कर चुके हैं॥ १७॥

प्रवर्तना—प्रवृत्तिहेतुत्वम्, ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा। यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति। प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः कस्माल्लक्षणतो निर्दिश्यन्त इति? कर्मलक्षणाः खलु रक्तद्विष्टमूढाः। रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दुःखं वा लभते; तथा द्विष्टः, तथा मूढ इति।

'दोषा रागद्वेषमोहाः'-इत्युच्यमाने बहु नोक्तं भवतीति॥ १८॥

(झ) प्रेत्यभावलक्षणम्

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः॥ १९॥

उत्पन्नस्य क्वचित्सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः। उत्पन्नस्य=सम्बद्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः। पुनरुत्पत्तिः=पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधानम्, यत्र क्वचित्प्राणभृन्निकाये वर्त्तमानः पूर्वोपात्तान्देहादीन् जहाति तत्प्रैति, यत् तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद्भवति। प्रेत्यभावः=मृत्वा पुनर्जन्म।

सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति॥ १९॥

(ञ) फललक्षणम्

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्॥ २०॥

प्रवर्तना ही दोष है॥ १८॥

प्रवर्तना=प्रवृत्ति के कारण (हेतु) दोष हैं। रागादि **दोष** ज्ञाता को पुण्य या पाप में प्रवृत्त करते हैं। जहाँ मिथ्याज्ञान होगा वहीं रागादि दोष होंगे।

साधारणजनों द्वारा सदा ही इन दोषों का अनुभव करते रहने से ये लक्षण विना बताये भी जाने जा सकते हैं, पुनः इनका पृथक् लक्षण करने की क्या आवश्यकता? उन कर्मों के कारण ही पुरुष रागी, द्वेषी तथा मूढ होते हैं; रागी पुरुष वही कर्म करता है, जिससे उसे सुख या दुःख मिलता है, इसी तरह द्वेषी तथा मोही पुरुष के विषय में समझना चाहिये; तात्पर्य यह निकला कि द्वेष प्रवृत्ति के कारण (जनक) हैं, यह 'जनकत्व' दिखाने के लिये ऐसा लक्षण किया गया है।

'राग द्वेष मोह दोष हैं'—ऐसा कहने पर इनकी गणनामात्र होती, इनका लक्षण नहीं होता, अतः 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः'—ऐसा ही सूत्र पढ़ा गया है॥ १८॥

पुनः उत्पन्न होना (मर कर जन्म लेना) प्रेत्यभाव है॥ १९॥

उत्पन्न हुए प्राणी का मरकर पुनः जन्म लेना प्रेत्यभाव कहलाता है। उत्पन्न का अर्थ है '**सम्बद्ध**'। किससे सम्बन्ध? देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि, वेदना से। इस तरह पुनरुत्पत्ति से तात्पर्य है आत्मा का देहादि से सम्बन्ध (क्योंकि आत्मा के नित्य होने से उसमें उत्पाद या मरण नहीं होता, अतः 'सम्बन्ध' कहा गया है)। 'पुनः' शब्द से अभ्यास (बार बार होना) में तात्पर्य है। जहाँ कहीं प्राणसंयुक्त शरीर में रहते हुए पूर्वोपात्त देहादि को छोड़ना—'**प्रैति**' (मर जाता है) कहलाता है, तथा वहाँ से अन्यत्र दूसरे देहादिक का ग्रहण कर (सम्बन्ध जोड़) लेता हुआ—'**भवति**' (जन्म लेता है)। इन दोनों शब्दों के संयोग से व्युत्पन्न '**प्रेत्यभाव**' का अर्थ है—'मर कर फिर जन्म लेना'।

इस जन्म-मरण की परम्परा का पुनः पुनः होना अनादि है, अपवर्ग जब होगा तभी इसका अन्त होगा—यह इस प्रेत्यभाव के विषय में समझ लेना चाहिये॥ १९॥

प्रवृत्ति तथा दोष से जनित सुख-दुःखरूप अर्थ 'फल' कहलाता है॥ २०॥

सुखदुःखसंवेदनं फलम्। सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकं च, तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम्। तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत्सर्वं भवति।

तदेतत्फलमुपात्तमुपात्तं हेयम्, त्यक्तं त्यक्तमुपादेयमिति नास्य हानोपादानयोर्निष्ठा पर्यवसानं वास्ति। स खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसोह्यते लोक इति॥ २०॥

(ट) दुःखलक्षणम्

अथैतदेव -

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥

बाधना=पीडा, ताप इति। तयाऽनुविद्धमनुषक्तमविनिर्भागेन वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखमिति। सोऽयं सर्वं दुःखेनानुविद्धमिति पश्यन् दुःखं जिहासुर्जन्मनि दुःखदर्शी निर्विद्यते, निर्विण्णो विरज्यते, विरक्तो विमुच्यते॥ २१॥

(ठ) अपवर्गलक्षणम्

यत्र तु निष्ठा यत्र तु पर्यवसानम्, सोऽयम्—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ २२॥

तेन=दुःखेन जन्मना, अत्यन्तं विमुक्तिः=अपवर्गः। कथम्? उपात्तस्य जन्मनो हानम्,

---

सुख-दुःख को स्वसम्बन्धितया अनुभव करना ही फल है। देह, इन्द्रिय, विषय, बुद्धि की समष्टि में सुखविपाक तथा दुःखविपाक-यों दो प्रकार का कर्म होता है, इसलिये यहाँ देहादिकों के साथ उपर्युक्त लक्षण वाला फल अभिप्रेत है। निष्कृष्टार्थ यह है कि सुख-दुःखसंवेदन तथा शरीरादि के साथ सम्बन्ध—ये दोनों प्रवृत्तिदोष से जनित हैं, अतः दोनों ही 'फल' कहलाते हैं।

यह उक्त प्रकार का फल पुनः पुनः प्राप्त कर छोड़ दिया जा सकता है, तथा इसे बार बार छोड़कर पुनः प्राप्त करने की इच्छा हो जाती है, इसीलिये इसके हान (त्याग) या उपादान (ग्रहण) की कोई सीमा नहीं है, कोई अन्त नहीं है। यह समस्त संसार इसी हानोपादान-प्रवाह में पड़कर सुख-दुःख भोगता रहता है॥ २०॥

यह शरीरादि फलान्त प्रमेय ही—

बाधना (पीड़ा) 'दुःख' कहलाता है॥ २१॥

'बाधना' कहते हैं पीड़ा अर्थात् ताप को। उसी से अनुस्यूत, उसके विना न रहने वाला, उसी में ओतप्रोत दुःखपरिणाम के कारण को **दुःख** कहते हैं। यह सब दुःख से अनुस्यूत है, दुःख के विना नहीं रह पाता, अतः यह सब कुछ 'दुःख' है।

इस प्रकार प्रमाता 'यह समग्र दृश्यमान जगत् दुःख है'—ऐसा विचार करता हुआ जन्म लेने में दुःख मानता है, दुःख मानकर ग्लानि करता है, ग्लानि मानकर सभी विषयों में वैराग्य धारण करता है, विरक्त होकर 'मोक्ष' पा जाता है॥ २१॥

जहाँ इस दुःख की अवधि है, जहाँ अन्त है, वह—

उस (जन्मरूप) दुःख से सदा के लिये छुटकारा पा जाना 'अपवर्ग' (मोक्ष) कहलाता है॥ २२॥

उस जन्मरूप दुःख से अत्यन्त (पुनरावृत्तिरहित) विमुक्ति (छुटकारा) ही अपवर्ग (मोक्ष)

अन्यस्य चानुपादानम्। एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविदः। तदभयम्, अजरम्, अमृत्युपदं ब्रह्म, क्षेमप्राप्तिरिति।

नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते, तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते; तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते—'नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते' इति।

नित्यस्याभिव्यक्तिः-संवेदनम्, तस्य हेतुवचनम्। नित्यस्याभिव्यक्तिः=संवेदनम्, ज्ञानमिति, तस्य हेतुर्वाच्यः, यतस्तदुत्पद्यत इति।

सुखवन्नित्यमिति चेत्? संसारस्थस्य मुक्तेनाविशेषः। यथा मुक्तः सुखेन तत्संवेदनेन च सन्नित्येनोपपन्नः, तथा संसारस्थोऽपि प्रसज्यत इति; उभयस्य नित्यत्वात्।

अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्यं गृह्येत। यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यं संवेदनस्य च सहभावो यौगपद्यं गृह्येत, न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरस्ति; उभयस्य नित्यत्वात्।

अनित्यत्वे हेतुवचनम्। अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य संवेदनमनित्यम्? यत उत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः।

कहलाता है। कैसे? क्योंकि तब प्राप्त जन्म का त्याग हो जाता है तथा अन्य (आगामी) जन्म का उपादान नहीं हो पाता। इस मोक्षरूप अविनाशी अवस्था को मुक्तितत्त्वज्ञ विद्वान् 'अपवर्ग' कहते हैं। इस प्रकार के इस कैवल्य पद में कहीं किसी से भी भय नहीं है, जरा (जीर्णता, वार्धक्य) नहीं है, यह अमृत्युपद भावरूप अवस्थाविशेष है, ब्रह्म है, नित्य सुख का आधार है।

महत्त्व की तरह मोक्ष में 'आत्मा में नित्य सुख अभिव्यक्त होता है, उसके अभिव्यक्त होने से विमुक्त अत्यन्त सुखी होता है'—ऐसा कुछ लोग मानते हैं; प्रमाण न होने से उनके इस मन्तव्य को अयुक्त ही समझें; क्योंकि ऐसा कोई प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि महत्त्व (व्यापकता) की तरह आत्मा को मोक्षावस्था में आत्मगत नित्य सुख अभिव्यक्त होता है।

नित्य की अभिव्यक्ति—अर्थात् संवेदन, उसमें कोई हेतु बताना चाहिये। यतः नित्य की अभिव्यक्ति=संवेदन अर्थात् ज्ञान है, अतः उसमें कोई हेतु दिखाना चाहिये जिससे वह (ज्ञान) उत्पन्न होता हो।

सुख की तरह वह नित्य है-ऐसा कहोगे तो संसारी और मुक्त पुरुष में भेद क्या रह जायगा? जैसे मुक्त पुरुष नित्य सुख तथा उसके संवेदन से उपपन्न है उसी प्रकार संसारी में भी नित्य सुख मानना पड़ेगा; क्योंकि दोनों ही सुख तथा संवेदन नित्य हैं।

दोनों को नित्य मानने पर, धर्म तथा अधर्म से उत्पन्न सुख-दुःख के उपलब्धिकाल में नित्य सुख तथा उसके नित्य ज्ञान का यौगपद्य (एककालसम्बद्धत्व) ग्रहण करना पड़ेगा।

सुख को नित्य तथा उसकी अभिव्यक्ति को अनित्य मानने में कोई हेतु दिखाना पड़ेगा कि 'मोक्ष में नित्य सुख की अभिव्यक्ति अनित्य है'। ऐसी अभिव्यक्ति जिससे उत्पन्न होती है, वह कारण बताना चाहिये।

आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम्। आत्ममनःसंयोगो हेतुरिति चेत्? एवमपि तस्य सहकारि निमित्तान्तरं वचनीयमिति।

धर्मस्य कारणवचनम्। यदि धर्मो निमित्तान्तरम्? तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति।

योगसमाधिजन्यकार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्तिः[१]। यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुः? तस्य कार्यावसायविरोधात्प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्तेत।

असंवेदने चाविद्यमानेनाविशेषः। यदि धर्मक्षयात् संवेदनोपरमो नित्यं सुखं न संवेद्यत इति? किं विद्यमानं न संवेद्यते, अथाविद्यमानम्?—इति नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति।

अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानमुत्पत्तिधर्मकत्वात्। योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयत इति नास्त्यनुमानम्। उत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति विपर्ययस्य त्वनुमानम्। यस्य तु संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयम्।

नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इत्युक्तम्। यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च, संवेदनस्य तूपरमो नास्ति; कारणस्य नित्यत्वात्, तथा संसारस्थस्यापीति। एवं च सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति।

शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत्? न; शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विपर्ययस्य चाननुमानात्।

वैसी अभिव्यक्ति में अकेला आत्ममनःसंयोग तो निमित्त बन नहीं सकता, अतः उसका कोई निमित्तान्तर मानना पड़ेगा। वह निमित्तान्तर कौन है? यह बताना चाहिये।

'धर्म ही तदपेक्षित निमित्तान्तर है'—ऐसा मानेंगे तो 'धर्म निमित्तान्तर है' इसमें भी कोई हेतु बताना पड़ेगा, जिससे वह उत्पन्न होता हो।

यदि योगसमाधिज धर्म (धर्ममेघाख्य समाधि) को उसका हेतु मानेंगे तो उस धर्म में कार्य का विरोधी रहने से सर्वक्षय हो जाता है, सर्वक्षय होने से उस सुखाभिव्यक्ति की भी अत्यन्त निवृत्ति हो जायगी।

'सुख है, परन्तु धर्मक्षय से उसका संवेदन नहीं हो पाता'—ऐसा मानेंगे तो इसमें तथा 'सुख नहीं है'—इसमें कोई अन्तर नहीं।

'उत्पत्तिधर्मा होने से वह धर्म क्षीण नहीं होता' ऐसा अनुमान भी नहीं कर सकते; अपितु 'उत्पत्तिधर्मा अनित्य होता है' ऐसा विपरीत अनुमान ही होता है। हाँ, ऐसा कोई पुरुष हो जिसे संवेदनोपरम कभी न हो पाये वह यदि अनुमान करे कि 'संवेदन हेतु नित्य है' तो बात बन सकती है, परन्तु ऐसा पुरुष मिलेगा कहाँ!

अथ च—संवेदनहेतु के नित्य मानने पर मुक्त और संसारी पुरुष में अन्तर नहीं रहेगा—वह हम पहले ही कह आये। जैसे मुक्त पुरुष के सुख तथा सुखसंवेदन कारण के नित्य होने से नित्य हैं; क्योंकि वहाँ सुखसंवेदनोपरम नहीं होता, ऐसी स्थिति में संसारी में सुख तथा सुखसंवेदन भी मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर धर्म तथा अधर्म से उत्पन्न सुख-दुःख के उपलब्धिकाल में नित्य सुख तथा उसके नित्य संवेदन का यौगपद्य भी मानना पड़ेगा।

यदि कहें—'उस संवेदन में शरीरादिसम्बन्ध प्रतिबन्धहेतु है'? शरीरादि तो उस सुख के

---

१. 'संवेदनानुवृत्तिः'-इति पाठा०।

स्यान्मतम्—संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकः, तेनाविशेषो नास्तीति? एतच्चायुक्तम्; शरीरादय उपभोगार्थाः, ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्; न चास्त्यनुमानम्-'अशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्ति' इति।

इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत्? न; अनिष्टोपरमार्थत्वात्। इदमनुमानम्-इष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः, प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणाम्, नोभयमनर्थकमिति? एतच्चायुक्तम्; 'अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः, प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणाम्' इति। नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं सम्भवतीति इष्टमप्यनिष्टं सम्पद्यते। अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहाति, विवेकहानस्याशक्यत्वादिति।

दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः। यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यं सुखं कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः! साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति।

उपभोग के लिये होते हैं, वे प्रतिबन्धक क्यों बनेंगे! 'शरीर उपभोगहेतु नहीं है'—ऐसा अनुमान करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह शास्त्रविरुद्ध होगा।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि संसारावस्थापन्न मुक्त पुरुष का शरीरादिसम्बन्ध नित्य सुखसंवेदन हेतु का प्रतिबन्धक है, इसलिये संसारी और मुक्तपुरुष के सुखसंवेदन में समानता नहीं है; परन्तु उनका मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि शरीरादि को पहले उपभोग का साधन मानना, फिर उन्हें उसका प्रतिबन्धक मानना—ये दो बातें एक साथ कैसे बनेंगी! 'अशरीरी आत्मा को कोई भोग होता है'—ऐसा कोई अनुमान भी नहीं है।

['मोक्ष में नित्य सुख अभिव्यक्त होता है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है' ऐसा भाष्यकार पहले कह चुके हैं, वहाँ वेदान्ती कहता है—] पुरुष की प्रवृत्तियाँ इष्ट सुखप्राप्ति के लिये ही देखी जाती हैं—ऐसा अनुमान प्रमाण मान लें? यह भी नहीं मान सकते; क्योंकि उसकी सभी प्रवृत्तियाँ केवल इष्टप्राप्ति के लिये ही नहीं, अपि तु उनमें कुछ अनिष्ट की निवृत्ति के लिये भी हुआ करती हैं। यदि यह अनुमान करें—'इष्टप्राप्ति के लिये मोक्षोपदेश किया जाता है, मुमुक्षुओं की उस उपदेश में प्रवृत्ति भी देखी जाती है', अतः दोनों ही निरर्थक नहीं है? तो यह ठीक नहीं; क्योंकि 'अनिष्टनिवृत्ति के लिये मोक्षोपदेश किया जाता है, मुमुक्षुओं की उस उपदेश में प्रवृत्ति भी देखी जाती है' यह अनुमान भी किया जा सकता है। इस संसार में ऐसा कोई भी इष्ट नहीं है जो अनिष्ट से अनुस्यूत न हो, अतः इष्ट भी किसी समय अनिष्ट बन सकता है। उस अनिष्ट की निवृत्ति के लिये प्रवर्तमान पुरुष अपने इष्ट को भी छोड़ बैठेगा; क्योंकि इष्टानिष्ट के परस्पर संश्लिष्ट होने से अनिष्टांश का त्याग तथा इष्टांश का रक्षण सर्वथा दुःशक है।

['इस संसार में क्षणिक सुख को छेड़कर बुद्धिपूर्वकारी स्थायी सुख ग्रहण करता है, उनमें स्थायितम सुख ही मोक्ष है'—ऐसा मानेंगे तो यह नय देहादि में भी समान पड़ेगा; क्योंकि उनके विषय में भी कहा जा सकता है—'क्षणिक नश्वर देहादि को छोड़कर उनसे स्थायितम किसी अन्य को चाहने की बुद्धिपूर्वकारी की इच्छा होती है इसलिये स्थायितम देहेन्द्रियादिरूप ही मोक्ष है' इस आशय से भाष्यकार परिहास करते हैं—] दृष्ट का अतिक्रमण कर उससे अच्छे अदृष्ट सुख की कल्पना को मोक्ष मानने पर देहादि में भी यह बात समान पड़ेगी। जैसे पुरुष दृष्ट सुख को छोड़कर नित्य सुख को चाहता है; इसी तरह देहेन्द्रिय बुद्धि को अनित्य समझकर उन्हें छोड़ते हुए इनसे अच्छी देहेन्द्रिय-बुद्धियों की

उपपत्तिविरुद्धमिति चेत्? समानम्। देहादीनां नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति? समानम्। सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति।

आत्यन्तिके च संसारदु:खाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोध:। यद्यपि कश्चिदागम: स्यात्—'मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखम्' इति, सुखशब्द आत्यन्तिके दु:खाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते। दृष्टो हि दु:खाभावे[1] सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोक इति।

नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभाव:, रागस्य बन्धनसमाज्ञानात्। यद्ययं मोक्षो नित्यं सुखमभिव्यज्यत इति? नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेत् नाधिगन्तुमर्हतीति। बन्धनसमाज्ञातो हि राग:। न च बन्धने सत्यपि कश्चिन्मुक्त इत्युपपद्यत इति।

प्रहीणे[2] नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम्। अथास्य नित्यसुखराग: प्रहीयते, तस्मिन् प्रहीणे नास्य नित्यसुखराग: प्रतिकूलो भवति? यद्येवम्, मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति; अथापि न भवति; नास्योभयो: पक्षयोर्मोक्षाधिगमो विकल्पत इति॥ २२॥

न्यायपूर्वाङ्गलक्षणप्रकरणम् [२३-२५]

संशयलक्षणम्

स्थानवत एव तर्हि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते—

ही 'मोक्ष' रूप में कल्पना की जा सकती है। इससे वेदान्तियों की 'मुक्त की एकात्मकल्पना' भी सुगम हो सकेगी!

जैसे नित्य देह की कल्पना में 'उपपत्तिविरुद्ध' कहोगे तो तुम्हारे पक्ष में भी यह 'उपपत्तिविरोध' समान है! जैसे प्रमाणविरुद्ध 'देहादि की नित्यता' कल्पना अशक्य है, वैसे ही प्रमाणविरुद्ध 'सुख की नित्यता' कल्पना भी अशक्य होगी!

'मुक्त में आत्यन्तिक सुख होता है'—ऐसे आगम में आत्यन्तिक सुख का प्रयोग 'सांसारिक दु:खाभाव' में होने से कोई विरोध नहीं है। यद्यपि 'मुक्त को आत्यन्तिक सुख मिलता है'—ऐसा आगम उपलब्ध है, परन्तु इस आगम में 'सुख' शब्द का प्रयोग आत्यन्तिक दु:खाभाव के लिये किया गया है। प्राय: लोक में भी दु:खाभाव के लिये 'सुख' का प्रयोग होता है। (जैसे—सिर से भार उतरने पर किसी अतिरिक्त सुख की उत्पत्ति न होने पर भी भारवाहक कहता है—'ओह! अब सुख मिला!')

नित्य सुख में मुमुक्ष की प्रवृत्ति यदि राग से होती हो तो रागनिवृत्ति न होने से तत्सम्पाद्य मोक्ष की भी अनुपपत्ति ही रहेगी? इसलिये कहते हैं—नित्यसुखराग के क्षीण न होने पर मोक्षप्राप्ति भी न होगी; क्योंकि राग तो बन्धन का हेतु है। मुमुक्षु यदि 'मोक्ष नित्य सुख अभिव्यक्त करता है'—ऐसा राग कर मोक्ष के लिये प्रयत्न करता है, तो वह मोक्ष नहीं पा सकेगा; क्योंकि राग भी एक प्रकार का बन्धन है और बन्धन के रहते कोई 'मुक्त' नहीं कहला सकता!

प्रहीण मानने पर भी नित्यसुखराग मोक्ष के विरुद्ध नहीं पड़ेगा। जब इस मुमुक्षु का नित्यसुखराग क्षीण हो जाता है, तब इसका यह नित्यसुखराग प्रतिकूल नहीं होगा, तब तो उसे मोक्ष

---

१. 'दु:खादेरभावे'-इति पाठा०।

२. 'प्रहीणनित्य'०-इति पाठा०।

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श: संशय:[1] ॥ २३॥

समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्श: संशय इति। स्थाणु-पुरुषयो: समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टं च तयोर्विशेषं बुभुत्समान: किंस्विदित्यन्यतरं नावधारयति, तदनवधारणं ज्ञानं संशय:। 'समानमनयोर्धर्ममुपलभे, विशेषमन्यतरस्य नोपलभे' इत्येषा बुद्धि: 'अपेक्षा'=संशयस्य प्रवर्त्तिका वर्त्तते, तेन **विशेषापेक्षो विमर्श: संशय:**।

अनेकधर्मोपपत्तेरिति। समानजातीयमसमानजातीयं चानेकम्, तस्यानेकस्य धर्मोपपत्ते:, विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्। समानजातीयेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते, गन्धवत्त्वात् पृथिवी अबादिभ्यो विशिष्यते गुणकर्मभ्यश्च। अस्ति च शब्दे विभागजन्यत्वं विशेष:। तस्मिन् 'द्रव्यं गुण: कर्म वा' इति सन्देह:; विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्। 'किं द्रव्यस्य सतो गुणकर्मभ्यो विशेष:, आहोस्विद् गुणस्य सतो द्रव्यकर्मभ्य:[2], अथ कर्मण: सतो द्रव्यगुणेभ्य: ?' इति विशेषापेक्षा—'अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभे' इति बुद्धिरिति।

का अधिगम हो जाना चाहिये? यदि ऐसी बात है तो मुक्त को नित्य सुख होता हो, या न होता हो—दोनों ही पक्षों में मोक्षप्राप्ति असन्दिग्ध ही है॥ २२॥

क्रमप्राप्त अवसर आने पर 'संशय' का लक्षण कथनीय है, अत: अब उसे कह रहे हैं—

समान धर्मोपलब्धि (उपपत्ति) से, अनेक धर्मोपलब्धि से, विप्रतिपत्ति से, उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष अपेक्षा रखनेवाला विमर्श 'संशय' कहलाता है॥ २३॥

१. समान धर्मोपपत्ति से विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। जैसे—स्थाणु और पुरुष में तुल्य धर्म आरोह-परिणाह (उतार-चढ़ाव) को देखता हुआ प्रमाता पहले देखे हुए उनके विशेष (विभेदक धर्म) को जानना चाहता हुआ 'वस्तुत: क्या है?'—यह एकतर निश्चय नहीं कर पाता, उक्त अनिश्चयरूप ज्ञान ही 'संशय' कहलाता है। 'इन दोनों के तुल्य धर्मों को ही पा रहा हूँ, विशेष धर्मों को नहीं'—यह बुद्धि 'अपेक्षा' कहलाती है, जो कि संशय की प्रवर्तिका है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि 'विशेषापेक्ष विमर्श' ही 'संशय' होता है।

२. अनेक धर्मोपलब्धि (उपपत्ति) से भी विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। अर्थात् समानजातीय तथा असमानजातीय विशेषक (विभेदक) धर्म सामान्य धर्म के साथ रहते हैं—इस अव्यवसाय की उपलब्धि से विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। समानजातीय और असमानजातीय धर्मों से अर्थ विभिन्न हुए देखे जाते हैं। जैसे—पृथ्वी गन्धवती होने से समानजातीय जलादि द्रव्यों से भिन्न है, इसी प्रकार असमानजातीय गुण, कर्म से भी। शब्द में भी विभागजन्य विशेष (विभेदक धर्म) है। इस (शब्द) में—'यह द्रव्य है, या गुण है, या कर्म है'—ऐसा सन्देह हो सकता है; क्योंकि उसका विभेदक धर्म तीनों में समानरूप से देखा जाता है। यहाँ 'क्या यह द्रव्य होता हुआ गुण, कर्म से भिन्न है'? या 'गुण होता हुआ द्रव्य, कर्म से भिन्न है' अथवा 'कर्म होता हुआ द्रव्य, गुण से भिन्न है'?—ऐसी विशेषापेक्षा—'किसी एक निश्चित विभेदक धर्म को नहीं पा रहा हूँ'—यह बुद्धि होती है।

---

१. संवदनीयम्-'सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय:' इति काणादा:। 'साधर्म्यदर्शनाद्विशेषोपलिप्सोर्विमर्श: संशय:' इति बौद्धा:।

२. क्वचिन्नास्ति।

विप्रतिपत्तेरिति। व्याहतमेकार्थदर्शनम्=विप्रतिपत्तिः, व्याघातः=विरोधः, असहभाव इति। 'अस्त्यात्मा' इत्येकं दर्शनम्, 'नास्त्यात्मा' इत्यपरम्; न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्र सम्भवतः, न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते, तत्र तत्त्वानवधारणं संशय इति।

उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि। सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु, मरीचिषु चाविद्यमानमुदकमिति; अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः—'किं सदुपलभ्यते, अथासत्' इति संशयो भवति।

अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः। सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असच्चानुत्पन्नं निरुद्धं वा; ततः क्वचिदनुपलभ्यमाने संशयः—'किं सन्नोपलभ्यते, उतासत्' इति संशयो भवति। विशेषापेक्षा पूर्ववत्।

पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृस्थे—एतावता विशेषेण पुनर्वचनम्। समानधर्माधिगमात् समानधर्मोपपत्तेविशेषस्मृत्यपेक्षो विमर्श इति[1] ॥ २३ ॥

प्रयोजनलक्षणम्

स्थानवतां लक्षणमिति समानम्।

---

३. विप्रत्तिपत्ति से विशेषापेक्ष विमर्श भी संशय कहलाता है। विरुद्ध एकार्थदर्शन को 'विप्रत्तिपत्ति' कहते हैं। व्याघात=विरोध, एक साथ न रहना। जैसा कि 'आत्मा है' यह एक वाक्य है, 'आत्मा नहीं है'—यह दूसरा वाक्य, एक में सत्ता (होना) तथा असत्ता (न होना) दोनों एकत्र रह नहीं सकते, इनमें से किसी एक का साधक हेतु भी नहीं दिखाया गया, अतः ऐसे अवसर पर तत्त्व (यथातथ=समीचीन) का ज्ञान का न होना ही 'संशय' है।

४. उपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। जैसे—सरोवर में जल है, और मिल जाता है, तथा मृगमरीचिका में जल नहीं है, परन्तु भान होता है। इसलिये कहीं उपलब्धि होने पर तत्त्वनिर्णायक प्रमाण की उपलब्धि न होने से 'क्या सत् ही मिलता है या असत् भी मिल जाता है'—ऐसा विमर्श भी 'संशय' होता है।

५. अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। सत् भी कभी कभी नहीं मिलता, जैसे—मन्त्रादि से कीलित या वस्त्रादि से आच्छादित जल। असत् तो मिलेगा ही क्या! असत् द्विविध स्थिति में होता है—१. अनुत्पन्न या २. किसी उपाय से छिपा हुआ। तब कहीं अनुपलब्धि होने पर संशय होता है कि क्या सत् उपलब्ध नहीं होता है, या असत् उपलब्ध नहीं होता? यहाँ 'विशेषापेक्षा' का व्याख्यान पहले लक्षण की तरह ही समझ लेना चाहिये।

'संशय' के इन पाँच हेतुओं में से प्रथम और द्वितीय ('समान···' और 'अनेक···') ज्ञेय में घटेंगे तथा चतुर्थ और पञ्चम ('उपलब्धि···' 'अनुपलब्धि···') ज्ञाता में। इसी भेद को बताने के लिये ये पुनः कहे गये हैं।

''समानधर्म के अधिगम से, समानधर्म की उपपत्ति से विशेष स्मृत्यपेक्षावान् विमर्श 'संशय' कहलाता है''—यह संशय का निष्कृष्ट लक्षण है ॥ २३ ॥

क्रमशः अवसर आने पर ही 'प्रयोजन' का लक्षण-कथन अभीष्ट था, अब उसका अवसर आ गया है।

---

१. अत्र वार्तिककारः—'समानधर्मोपपत्तेः, अनेकधर्मोपपत्तेः, विप्रतिपत्तेश्च त्रिविध एव संशयः' इत्याह। विस्तरस्तु तत एवावगन्तव्यः।

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वा व्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति, प्रयोजनं तद्वेदितव्यम्; प्रवृत्तिहेतुत्वात्। 'इममर्थमाप्स्यामि हास्यामि वा' इति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः, एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियत इति ॥ २४ ॥

दृष्टान्तलक्षणम्

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

[1]लोकसामान्यमनतीता **लौकिकाः**, नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः। तद्विपरीताः **परीक्षकाः**, तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति। यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः।

दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति ॥ २५ ॥

न्यायाश्रयसिद्धान्तलक्षणप्रकरणम् [२६-३१]

अथ सिद्धान्तः। इदमित्थम्भूतञ्चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धम्, सिद्धस्य संस्थितिः=सिद्धान्तः। संस्थितिः इत्थम्भावव्यवस्था, धर्मनियमः।

स खल्वयम्—

प्रमाता जिस अर्थ (वस्तु) को अनुकूल या प्रतिकूल निश्चय कर प्रवृत्त हो उसे 'प्रयोजन' कहते हैं ॥ २४ ॥

प्रमाता जिस अर्थ को उपादेय या हेय निश्चित करके उसकी प्राप्ति या त्याग का प्रयत्न करता है, उसे 'प्रयोजन' समझना चाहिये; क्योंकि वह (प्रयोजन) प्रमाता की प्रवृत्ति का हेतु होता है। 'इस अर्थ को ग्रहण करूँगा, या छोड़ूँगा', यह निश्चित (इच्छा) ही अर्थ का अधिकार (प्रयोजन) है। इस निश्चय का विषय अर्थ अधिकार का विषय है ॥ २४ ॥

जिस अर्थ में लौकिक और परीक्षकों का बुद्धि का साम्य (अविरोध) हो वह 'दृष्टान्त' कहलाता है ॥ २५ ॥

'लौकिक' उसे कहते हैं जिसकी बुद्धि लोकविपरीत में न जाती हो, अर्थात् ऐसे शिष्य, जिन्होंने स्वाभाविक शास्त्रमर्यादित अर्थ को समझने में बुद्धि का वैशद्य न प्राप्त किया हो। उसके विपरीत 'परीक्षक' उसे कहते हैं जिसकी बुद्धि शास्त्रपरिशीलन से प्रकृष्ट हो चुकी हो, जो कि तर्क तथा प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा कर सकता हो। जिस अर्थ को लौकिक तथा परीक्षक पुरुष एक-सा समझते हों, वह अर्थ 'दृष्टान्त' कहलाता है।

दृष्टान्तविरोध से प्रतिपक्षी को वाद में रोका जाता है तथा दृष्टान्तसमाधान से अपना पक्ष परिपुष्ट किया जाता है, और पञ्चावयवों में उदाहरण की कल्पना दृष्टान्त से ही होती है—इन सब कारणों से दृष्टान्त को 'न्यायपूर्वाङ्ग' में समाविष्ट किया है ॥ २५ ॥

अब 'सिद्धान्त' का व्याख्यान करते हैं। 'यह ऐसा'—इस प्रकार स्वीक्रियमाण अर्थसमूह 'सिद्ध' कहा जाता है, सिद्ध की संस्थिति 'सिद्धान्त' कहलाती है। 'संस्थिति' से तात्पर्य है 'ऐसा हो

---

१. 'लोकसाम्यम्'-इति पाठा०। लोकसामान्यम्=मौर्ख्यम्।

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः[1] ॥ २६ ॥

तन्त्रार्थसंस्थितिः तन्त्रसंस्थितिः, तन्त्रम्=इतरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः; शास्त्रम्। अधिकरणानुषक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः, अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थ-परिग्रहः, तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ २६ ॥

तन्त्रभेदात्तु खलु—

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २७ ॥

तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽर्थान्तरभूताः ॥ २७ ॥

तासाम्—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

यथा—घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ॥ २८ ॥

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥ २९ ॥

यथा—नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेषः—इति साङ्ख्यानाम्।

होना चाहिये'-इस तरह की व्यवस्था, अर्थात् इस प्रकार का निश्चय। प्रामाणिकतया स्वीक्रियमाण अर्थ की 'इदमित्थम्' इस व्यवस्था को 'सिद्धान्त' कहते हैं। अर्थात् धर्मनियम भी वही है। वही यह—

शास्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम भेद से विशेष परीक्षणार्थ स्वीकृत विषय (ज्ञानविशेष) की इत्थम्भावव्यवस्था 'सिद्धान्त' कहलाती है ॥ २६ ॥

परस्पर सम्बद्ध अर्थसमूह का उपदेशक शास्त्र 'तन्त्र' कहलाता है। तन्त्रार्थ की इत्थम्भावव्यवस्था 'तन्त्रसंस्थिति' कही जाती है, उसमें अधिकरणभेद से सम्बद्ध अर्थ 'अधिकरणसंस्थिति' कहलाता है। अनिश्चित अर्थ (शास्त्र में साक्षात् अनुक्त, जैसे—इस शास्त्र में मन का इन्द्रियत्व) का परिग्रह 'अभ्युपगमसंस्थिति' कहलाता है। संक्षेप में—मन आदि के विशेष अंश की परीक्षा के लिये अभ्युपगमसिद्धान्त माना जाता है ॥ २६ ॥

तन्त्रभेद से—

वह सिद्धान्त चार प्रकार का होता है—१. सर्वतन्त्रसंस्थिति, २. प्रतितन्त्रसंस्थिति, ३. अधिकरण-संस्थिति तथा ४. अभ्युपगमसंस्थिति ॥ २७ ॥

भेद करने पर संस्थिति (सिद्धान्त) के ये चार भेद ही बन सकते हैं ॥ २७ ॥

उन सिद्धान्तों में—

अन्य तन्त्रों से सम्मत तथा स्वतन्त्र प्रतिपादित अर्थ 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' कहलाता है ॥ २८ ॥

जैसे—'घ्राणादिक इन्द्रिय हैं', 'गन्धादि इन्द्रियों के विषय हैं', 'पृथिवी आदि महाभूत हैं', 'प्रमाण से अर्थ का ग्रहण होता है'—ये सिद्धान्त सभी तन्त्रों में समानतया गृहीत हैं, अतः इन्हें 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' कहा जाता है ॥ २८ ॥

समान (स्वमतानुयायी) तन्त्र में स्वीकृत तथा विरोधी अन्य तन्त्र में अस्वीकृत अर्थ 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' कहलाता है ॥ २९ ॥

---

१. तन्त्र्यन्ते पदार्था अनेनेति तन्त्रं प्रमाणम्, तदधिकरणमाश्रयो ज्ञापकतया येषां पदार्थानामभ्युपगमो ज्ञानविशेषस्तस्य संस्थितिः 'इदमित्थमेव' इति व्यवस्थेति सूत्राक्षरार्थः। तथा च तच्छास्त्रसिद्धोऽर्थः, तन्निश्चयो वा तच्छास्त्रसिद्धान्त इति भावः।

पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः, प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यते—इति योगानाम्[1] ॥ २९ ॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते, न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति, तेऽर्था यदधिष्ठानाः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः। यथा—'देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता, दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' इति। अत्रानुषङ्गिणोऽर्थाः—'इन्द्रियनानात्वम्', 'नियतविषयाणीन्द्रियाणि', 'स्वविषयग्रहण-लिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि', 'गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम्' 'अनियतविषयाश्चेतना' इति पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति, न तैर्विना सोऽर्थः सम्भवतीति[2] ॥ ३० ॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते-अस्ति द्रव्यं शब्दः; स तु नित्यः, अथानित्य

'असत् की उपलब्धि नहीं हो सकती, सत् का क्षय नहीं हो सकता'; 'चेतन अपरिणामी है, किसी धर्म से युक्त नहीं होता'; 'देह, इन्द्रिय, मन आदि स्थूल विषय तथा तत्कारण महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च महाभूत आदि सूक्ष्म विषयों में विशेष अतिशय रहता है' इत्यादि सांख्यतन्त्र के सिद्धान्त हैं।

'भूतसृष्टि पुरुषकर्मनिमित्तक है', 'प्रवृत्ति तथा दोष कर्महेतु है', 'चेतन स्वगुणविशिष्ट है', 'असत् उत्पन्न होता है' 'उत्पन्न विनष्ट होता है'—ये नैयायिकों के सिद्धान्त हैं।

ये उभयविध सिद्धान्त साङ्ख्य तथा नैयायिकों के लिये परस्पर 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' हुए ॥ २९ ॥

जिसके सिद्ध होने पर अन्य प्रकरण (साथ लगे अर्थ) की स्वतः सिद्धि हो जाय, वह 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है ॥ ३० ॥

जिस अर्थ की सिद्धि से अन्य अर्थ अनुषक्त (=सिद्ध, साथ लगे हुए) हों, उनके विना वह अर्थ सिद्ध न होता हो, वे अर्थ जहाँ उपवर्णित हों, वह 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है। जैसे—'दर्शन तथा स्पर्श द्वारा एक ही अर्थ का ग्रहण होने से देहेन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है'—इस अनुमान में अनुषक्त (साथ लगे) अर्थ हैं—इन्द्रियों का नानात्व, इन्द्रियों का नियतविषयत्व, इन्द्रियों का स्वविषयग्रहणहेतु तथा ज्ञाता के लिये इन्द्रियों का ज्ञानसाधनत्व आदि और 'द्रव्य गन्धादि गुणों से अतिरिक्त है और गुणों का अधिष्ठान है', 'चेतन धर्म अनियतविषयक है' आदि। पूर्व साक्षाद् अधिकृत अर्थ की सिद्धि होने पर ही ये अर्थ सिद्ध हो सकते हैं, इनकी सिद्धि के विना वह अर्थ भी सिद्ध न हो पायगा। यह परस्पर एक दूसरे को प्रमाणित करना ही 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है ॥ ३० ॥

जो अर्थ सूत्रों में परीक्षित न हो परन्तु शास्त्र में मिलता हो उसका विशेष परीक्षण 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहलाता है ॥ ३१ ॥

कोई ऐसा अर्थसमूह जो अपरीक्षित (सूत्र में न कहा गया या जिसकी सम्यक् परीक्षा न की गयी) हो, शास्त्र में मिल जाय उसकी विशेष परीक्षा ही 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहलाती है। जैसे—'शब्द द्रव्य है, वह नित्य है या अनित्य', यहाँ शब्द की द्रव्यत्वपरीक्षा तथा द्रव्य होने पर उसकी

---

१. वैशेषिकाणाम्—इति केचित्। तत्त्वतस्तु योगशब्देनात्र नैयायिका एवाभिप्रेताः। एतस्मिन्नेवार्थेऽस्य प्रयोगो बहुत्रोप-लभ्यते प्राचीनग्रन्थेषु।

२. अत्रार्थापत्तिमुखेनाधिकरणसिद्धान्तखण्डनाय बद्धपरिकराणां बौद्धनैयायिकानां मतं तत्खण्डनं च वार्त्तिकेऽवधेयं सुधीभिः।

इति? द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते, सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः, स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाच्च प्रवर्तत इति॥ ३१॥

न्यायप्रकरणम् [३२-३९]

अथावयवाः—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः॥ ३२॥

दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते-जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनम्, संशयव्युदास इति, ते कस्मान्नोच्यन्त इति?

तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका **जिज्ञासा**। अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते? 'तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वा, उपादास्ये वा, उपेक्षिष्ये वा' इति। ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थः, तदर्थमयं जिज्ञासते। सा खल्वियमसाधनमर्थस्येति। जिज्ञासाधिष्ठानं **संशयश्च** व्याहतधर्मोपसङ्घातात् तत्त्वज्ञाने प्रत्यासन्नः, व्याहतयोर्हि धर्मयोरन्यतरत्तत्त्वं भवितुमर्हतीति। स पृथगुपदिष्टोऽप्यसाधनमर्थस्येति। प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि, सा **शक्यप्राप्तिर्न** साधकस्य वाक्यस्य भागेन युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति। **प्रयोजनं** तत्त्वावधारणमर्थसाधकस्य वाक्यस्य फलम्, नैकदेश इति। **संशयव्युदासः** प्रतिपक्षोपवर्णनम्, तत्प्रतिषेधेन तत्त्वाभ्यनुज्ञानार्थम्, न त्वयं साधकवाक्यैकदेश इति। प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्थाः,

---

नित्यता या अनित्यता की यह विशिष्ट सूक्ष्म परीक्षा ही 'अभ्युपगमसिद्धान्त' है। अभ्युपगमसिद्धान्त का उपयोग अपनी बुद्धि की उत्कृष्टता दिखलाने तथा प्रतिपक्षी की बुद्धि को अपकृष्टता के लिये किया जाता है॥ ३१॥

अब अवयवों का वर्णन करते हैं—

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन—न्यायवाक्य के ये (पाँच) अवयव हैं॥ ३२॥

कुछ नैयायिक न्यायवाक्य के दश अवयव मानते हैं, जिनमें पाँच तो ऊपर गिना ही दिये गये हैं, इनके अतिरिक्त पाँच ये हैं—१. जिज्ञासा, २. संशय, ३. शक्यप्राप्ति, ४. प्रयोजन तथा ५. संशयनाश; सूत्र में ये अतिरिक्त पाँच भी क्यों नहीं कहे गये?

'जिज्ञासा' अप्रतीयमान अर्थ में प्रत्यय होने के लिये प्रवर्त्तिका होती है, अप्रतीयमान अर्थ की इसलिये जिज्ञासा होती है कि उसे तत्त्वतः जान कर छोड़ दूँगा, या ग्रहण कर लूँगा या उपेक्षा कर दूँगा। ये हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धियाँ तत्त्वज्ञान से होती हैं, तत्त्वज्ञान के लिये 'जिज्ञासा' काम आती है। यह किसी अर्थ को साधिका नहीं है, अतः पञ्चावयवों में इसका परिगणन निरर्थक है। क्योंकि जिज्ञासाधिष्ठान 'संशय' में दो विरुद्ध धर्मों का उपसङ्घात होता है, अतः यह तत्त्वज्ञान के लिये प्रत्यासन्न है, विरुद्ध धर्म में से अन्यतर होना चाहिये केवल इतना समझता है, इसीलिये इसका प्रमेयों में पाठ करके भी पञ्चावयवों में इसे नहीं पढ़ा, क्योंकि यह भी अर्थसाधक कोटि में नहीं आता। प्रमाता के प्रमाण प्रमेयप्राप्त्यर्थक है—यह 'शक्यप्राप्ति' साधक वाक्य में प्रतिज्ञा की तरह अवयवरूप से प्रयुक्त नहीं होती। तत्त्वावधारण को 'प्रयोजन' कहते हैं, यह अर्थसाधक वाक्य का फल हो सकता है, अवयव नहीं। इसी तरह 'संशयव्युदास' भी तत्त्वाभ्यनुज्ञा के लिये उपयुक्त है, क्योंकि प्रतिपक्षोपवर्णन का निषेधक है, जो तत्त्वज्ञान में सहायक हो सकता है, अर्थसाधक वाक्य का एकदेश नहीं बन सकता। [नैयायिक भद्रबाहु 'संशय', 'संशयव्युदास' के स्थान पर 'आशङ्काप्रतिषेध' का परिगणन

अवधारणीयार्थोपकारात्। तत्त्वार्थसाधकभावातु प्रतिज्ञादयः साधकवाक्यस्य भागा एकदेशा अवयवा इति॥ ३२॥

प्रतिज्ञालक्षणम्

तेषां तु यथाविभक्तानाम्—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा॥ ३३॥

प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञा[1] साध्यनिर्देशः—'अनित्यः शब्दः' इति॥ ३३॥

हेतुलक्षणम्

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः॥ ३४॥

उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः, साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः—'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति॥ ३४॥

किमेतावद्धेतुलक्षणमिति? नेत्युच्यते; किं तर्हि?

तथा वैधर्म्यात्॥ ३५॥

उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः। कथम्? 'अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्; अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम्, यथा आत्मादि द्रव्यम्' इति॥ ३५॥

करते हैं, उनका खण्डन भी इन दोनों के खण्डन की तरह ही समझना चाहिये।] एक प्रकरण (कथाप्रवृत्ति) में ये पाँचों जिज्ञासादि अवधारणीय अर्थ के उपकारक होने से स्वरूपेण समर्थ हो सकते हैं। प्रतिज्ञादि पाँचों अवयव तो साधक वाक्य के तत्त्वार्थसाधक होने से भाग (एकदेश, अवयव) हैं। अतः सूत्रकार ने अवयव-परिगणन में इन्हीं पाँचों का ग्रहण किया है॥ ३२॥

उनका विभाग करने के बाद (प्रत्येक का लक्षण करते हैं)—

वाक्य में साध्य का निर्देश 'प्रतिज्ञा' कहलाता है॥ ३३॥

प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का परिग्राहक वाक्य 'प्रतिज्ञा' कहलाता है। अर्थात् साध्यतया स्वीक्रियमाण अर्थ का वचन 'प्रतिज्ञा' है—जैसे 'शब्दः अनित्यः' यह वचन साध्यनिर्देश है॥ ३३॥

उदाहरणसादृश्य से साध्य (धर्म) का साधक 'हेतु' कहलाता है॥ ३४॥

सामान्य धर्म को समझकर उदाहरण में अनुसन्धान करने के पश्चात् साध्य का साधक 'हेतु' कहलाता है। जैसे 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह हेतु है। लोक में अन्य उत्पत्तिधर्मक प्रमेय भी अनित्य ही देखा गया है॥ ३४॥

क्या हेतु का लक्षण इतना ही है? नहीं; यह भी है—

उदाहरण के असादृश्य से साध्य का साधक भी 'हेतु' है॥ ३५॥

हेतु अपना वैधर्म्य उदाहरण में बतला कर भी साध्य का साधक होता है। कैसे? 'शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से', 'जो अनुत्पत्तिधर्मक है वह नित्य है, जैसे—आत्मा आदि द्रव्य'। यहाँ आत्मादि का असमान (असदृश) उदाहरण देकर साध्य में अनित्यत्वसाधक 'उत्पन्नत्व' हेतु सिद्ध किया गया है॥ ३५॥

---

१. एतत्पदं क्वचिन्नास्ति।

उदाहरणलक्षणम्

साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्॥ ३६॥

साध्येन साधर्म्यम्=समानधर्मता। साध्यसाधर्म्यात्कारणात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त इति। तस्य धर्मस्तद्धर्मः। तस्य=साध्यस्य। साध्यं च द्विविधम्-धर्मविशिष्टो वा धर्मः—शब्दस्यानित्यत्वम्; धर्मविशिष्टो वा धर्मी—'अनित्यः शब्दः' इति। इहोत्तरं तद्ग्रहणेन गृह्यत इति। कस्मात्? पृथग्धर्मवचनात्। तस्य धर्मस्तद्धर्मः, तस्य भावस्तद्धर्मभावः, स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यादुत्पत्तिधर्मकत्वात्[1] तद्धर्मभावी भवति, स चोदाहरणमिष्यते, तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम्। तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति, निरुध्यत इत्यनित्यम्। एवमुत्पत्तिधर्मकत्वं साधनम्, अनित्यत्वं साध्यम्। सोऽयमेकस्मिन् द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद् व्यवस्थित उपलभ्यते; तं दृष्टान्त उपलभमानः शब्देऽप्यनुमिनोति—'शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः, स्थाल्यादिवत्' इति उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्॥ ३६॥

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्॥ ३७॥

दृष्टान्त उदाहरणमिति प्रकृतम्। साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणमिति। 'अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि'। सोऽयमात्मादिर्दृष्टान्तः साध्यवैधर्म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वादतद्धर्मभावी, योऽसौ साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं स तस्मिन्न

साध्य के सादृश्य से साध्य के धर्म से सम्बद्ध धर्म का भाव जिसमें हो वह दृष्टान्त 'उदाहरण' कहलाता है॥ ३६॥

साध्यसाधर्म्य से साध्य की समानधर्मता में तात्पर्य है। उस (साध्य) का धर्म 'तद्धर्म' है। साध्य दो प्रकार का होता है—१. धर्मिविशिष्ट धर्म, जैसे—'शब्दस्य अनित्यत्वम्' या २. धर्मविशिष्ट धर्मी, जैसे—'अनित्यः शब्दः'। यहाँ द्वितीय अर्थ तद्ग्रहण से गृहीत है; क्योंकि धर्म (अनित्यत्व) पृथक् कहा गया है। उसका धर्म=तद्धर्म, तद्धर्म का भाव=तद्धर्मभाव; वह जिस दृष्टान्त में हो वह दृष्टान्त साध्यसाधर्म्य से 'तद्धर्मभावी' होता है, वही 'उदाहरण' कहलाता है। जो उत्पन्न होता है, वह 'उत्पत्तिधर्मक' है, वह होकर नहीं भी होता है, अपने को त्याग देता है, निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार 'अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इस वाक्य में साधन हुआ 'उत्पत्तिधर्मत्व', 'अनित्यत्व' हुआ साध्य। यह दो धर्मों का एकत्र साध्यसाधनभाव सादृश्य से व्यवस्थित मिलता है। प्रमाता उसे दृष्टान्त में देखता हुआ शब्द में भी अनुमान कर लेता है—'शब्द भी अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से, स्थाल्यादि की तरह।' दो धर्मों का साध्य-साधनभाव इससे उदाहृत होता है, अतः इसे 'उदाहरण' कहते हैं॥ ३६॥

साध्य के असादृश्य से अतद्धर्मभावी दृष्टान्त भी 'उदाहरण' कहलाता है॥ ३७॥

'दृष्टान्त उदाहरण होता है'—यह प्रसङ्ग चल रहा है। यहाँ सूत्रकार कहते हैं—साध्य की असमानता से साध्य के धर्म से असम्बद्ध दृष्टान्त भी 'उदाहरण' कहलाता है। जैसे—'शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से, जो उत्पत्तिधर्मा नहीं होता वह नित्य होता है, यथा—आत्मा आदि।' यहाँ 'आत्मा आदि' दृष्टान्त है, साध्य की असमानता से अनुत्पत्तिधर्मा होने के कारण अतद्धर्मभावी

---

१. 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'-इति क्वचिन्नास्ति।

भवतीति। अत्रात्मादौ दृष्टान्त उत्पत्तिधर्मकत्वस्याभावादनित्यत्वं न भवतीति उपलभमानः शब्दे विपर्ययनुमिनोति—'उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्दः' इति।

साधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। वैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति। उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते तयोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति, तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति। तदेतद् हेत्वाभासेषु न सम्भवतीत्यहेतवो हेत्वाभासाः। तदिदं हेतूदाहरणयोः सामर्थ्यं[1] परमसूक्ष्मं दुरवबोधं पण्डितरूपवेदनीयमिति॥ ३७॥

उपनयलक्षणम्

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः॥ ३८॥

उदाहरणापेक्षः=उदाहरणतन्त्रः, उदाहरणवशः। वशः=सामर्थ्यम्।

साध्यसाधर्म्ययुक्ते उदाहरणे—स्थाल्यादि द्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम्, तथा 'शब्द उत्पत्तिधर्मकः' इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। साध्यवैधर्म्ययुक्ते पुनरुदाहरणे—आत्मादि द्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्, न तथा शब्द इति, अनुत्पत्तिधर्मकत्वस्योपसंहारप्रतिषेधेनोत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणद्वैताद्भवति।

अनित्यस्वरूप साध्यधर्म उसमें (आत्मा में) नहीं रहता। यहाँ प्रमाता 'आत्मा आदि दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्मत्व न रहने से अनित्यत्व नहीं बनता' ऐसा अनुभव करता हुआ, शब्द में विपरीत अनुमान करता है—'उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है'।

साधर्म्योक्त हेतु का साध्यसमानता से युक्त तद्धर्मभावी दृष्टान्त 'उदाहरण' कहलाता है। वैधर्म्योक्त हेतु का साध्य की असमानता से अतद्धर्मभावी दृष्टान्त भी 'उदाहरण' कहलाता है। प्रथमोक्त दृष्टान्त में प्रमाता जिन दो धर्मों को साध्यसाधनभावापन्न देखता है, साध्य में भी उन दोनों के साध्यसाधनभाव का अनुमान कर लेता है। उत्तर दृष्टान्त में उन दोनों धर्मों में से एक के न रहने पर इतर का अभाव देखता है तो वह साध्य में भी उनमें से एक के अभाव का अनुमान कर लेता है। यह बात हेत्वाभासों में सम्भव नहीं है; क्योंकि हेत्वाभास अहेतुक है। यह हेतु-उदाहरण का सामर्थ्य (सादृश्य) परम सूक्ष्म है, दुरवबोध है, न्यायशास्त्रज्ञ विद्वान् ही इसे समझ सकते हैं॥ ३७॥

उदाहरण की अपेक्षा रखते हुए 'वैसा ही यह है' या 'वैसा यह नहीं है'—साध्य का उपसंहार 'उपनय' कहलाता है॥ ३८॥

'उदाहरणापेक्ष' से तात्पर्य है उदाहरणानुसारी अर्थात् उदाहरणवश। 'वश' कहते हैं 'सामर्थ्य' को। अक्षरार्थ हुआ— 'उदाहरण से सामर्थ्य (शक्ति) पाया हुआ'।

जिस प्रमाता ने साध्य के सादृश्य से युक्त उदाहरण में स्थाली आदि द्रव्य को उत्पत्तिधर्मक होने से अनित्य देखा है, वह प्रमाता 'शब्द उत्पत्तिधर्मक है' इस अनुमान में साध्य द्रव्य का अनित्यत्वविशिष्ट शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व उपसंहृत कर लेता है। इसी तरह साध्य की असदृशता से युक्त उदाहरण में आत्मा-आदि द्रव्य को अनुत्पत्तिधर्मा होने से नित्य समझा है, वह नित्यत्व शब्द में नहीं है, क्योंकि अनुत्पत्तिधर्मकत्व के उपसंहारप्रतिषेध से वहाँ उत्पत्तिधर्मकत्व उपसंहृत हो जाता है। अन्वय-व्यतिरेकी रूप से उदाहरण के दो भेदों से उपसंहार के ये दो भेद हो जाते हैं। जिससे उपसंहार

---

१. 'साधर्म्यम्'-इति पाठा०।

उपसंह्रियतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्य इति। द्विविधस्य पुनर्हेतोर्द्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारद्वैते च समानम्॥ ३८॥

निगमनलक्षणम्

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्॥ ३९॥

साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते, 'तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः' इति निगमनम्। निगम्यन्ते अनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्। निगम्यन्ते=समर्थ्यन्ते, सम्बध्यन्ते।

तत्र साधर्म्योक्ते तावद्धेतौ वाक्यम्—'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञा, 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति हेतुः, 'उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादि द्रव्यमनित्यम्' इत्युदाहरणम्, 'तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः' इत्युपनयः, 'तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः' इति निगमनम्।

वैधर्म्योक्तेऽपि—'अनित्यः शब्दः', 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्', 'अनुत्पत्तिधर्मकमात्मादि द्रव्यं नित्यं दृष्टम्', 'न च तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्द', 'तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः' इति।

अवयवसमुदाये च वाक्ये सम्भूयेतरेतराभिसम्बन्धात् प्रमाणान्यर्थान् साधयन्तीति। सम्भवस्तावत्-शब्दविषया प्रतिज्ञा, आप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिसन्धानाद्, अनृषेश्च

(उपन्यास) हो वह 'उपसंहार' कहलाता है। दो प्रकार के हेतु कह दिये गये तथा दो प्रकार के उदाहरण और उपसंहार (उपनय) भी बता दिये गये॥ ३८॥

उसी तरह अब दो प्रकार के निगमन का भी व्याख्यान कर रहे हैं।

हेतु-कथन के बाद प्रतिज्ञा को फिर से दुहराना ही 'निगमन' कहलाता है॥ ३९॥

साधर्म्ययुक्त या वैधर्म्ययुक्त हेतुकथनानन्तर जैसे उदाहरण अपना कार्य कर चुका होता है, उसी प्रकार उत्पत्तिधर्मकत्वहेतु से उपसंहृत 'शब्द अनित्य है'—इस प्रकार प्रतिज्ञा को पुनः दुहराना ही 'निगमन' कहलाता हैं। निगमन में प्रतिज्ञा आदि चतुष्टय समर्थित होते हैं।

साधर्म्ययुक्त हेतु में वाक्य यों विभक्त होगा—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा हुई, 'उत्पत्तिधर्मा होने से' यह हेतु हुआ, 'उत्पत्तिधर्मा स्थाली आदि द्रव्य अनित्य होते हैं' यह उदाहरण हुआ, 'वैसा ही यह शब्द है' यह उपनय हुआ, 'इसलिये उत्पत्तिधर्मा होने से शब्द अनित्य है' यह निगमन हुआ।

वैधर्म्ययुक्त हेतुवाक्य में—'शब्द अनित्य है', 'उत्पत्तिधर्मा होने से', 'अनुत्पत्तिधर्मा आत्मादि द्रव्य नित्य देखा गया है', 'यह शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है', 'इसलिये उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है'—इस प्रकार पञ्चावयव का प्रयोग होगा।

इस पञ्चावयवयुक्त वाक्य में अनेक प्रमाण सम्मिलित होकर परस्पर सम्बद्ध रहते हुए अर्थसाधन करते हैं।

प्रमाणों के इस सम्मिश्रण को इस तरह समझना चाहिये—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा आप्तोपदेश है, ऋष्यनुक्त आप्तोपदेश स्वतन्त्र नहीं हो सकता, उसमें अवश्य प्रत्यक्ष या अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी, अतः प्रतिज्ञा में प्रत्यक्ष तथा अनुमान का सम्मिश्रण हुआ। इसी प्रकार साध्य-साधन की व्याप्ति को उदाहरण में देखकर ही हेतु का हेतुत्व निश्चित होता है, अतः उदाहरण में सादृश्य-प्रतिपादन से हुए अनुमान को ही 'हेतु' कहते हैं। इसका विशद विवेचन हम पीछे

स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः। अनुमानं हेतुः, उदाहरणे सादृश्यप्रतिपत्तेः। तच्चोदाहरणभाष्ये[1] (१.१.३६) व्याख्यातम्। प्रत्यक्षविषयमुदाहरणम्, दृष्टेनादृष्टसिद्धेः। उपमानमुपनयः; 'तथा' इत्युपसंहारात्, 'न च तथा' इति चोपमानधर्मप्रतिषेधे विपरीतधर्मोपसंहारसिद्धेः। [2]सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति।

इतरेतराभिसम्बन्धोऽपि-असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्तेरन्। असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत, उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात्, कस्य चापदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति! असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत, कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्तेत! उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत्। निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं 'तथा' इति प्रतिपादनं कस्येति!

अथावयवार्थः—साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा सम्बन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः, उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा साध्यस्य धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः, धर्मयोः साध्यसाधनभावप्रदर्शनमेकत्रोदाहरणार्थः, साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः, उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम्।

उदाहरणसूत्र-व्याख्यान (१.१.३६) के समय कर आये हैं। उदाहरण प्रत्यक्षाधीन होता है; क्योंकि उस दृष्ट उदाहरण से अदृष्ट (परोक्ष) की सिद्धि की जाती हैं। उपनय को उपमान प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि इस उपनय में 'वैसा ही' यह उपसंहार होता है, या 'वैसा नहीं' यह उपमानधर्म प्रतिषिद्ध होने पर विपरीतधर्मा (वैधर्म्ययुक्त) उपसंहार सिद्ध हो सकेगा। 'प्रतिज्ञा से उपनय तक का अर्थ या स्वभावप्रतिबद्ध लिङ्ग है'—ऐसा प्रतिपादनसामर्थ्य दिखाना निगमन का अर्थ होने से उसमें सब प्रमाणों का सम्मिश्रण स्पष्ट ही है।

इनका परस्पर सम्बन्ध यों समझना चाहिये—पहली बात तो यह है कि वाक्य में प्रतिज्ञा के न रहने पर आश्रयरहित हेत्वादि की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। हेतु के न रहने पर वाक्य में साधनत्व किसका दिखायेंगे! उदाहरण और साध्य में किसका उपसंहार करेंगे! किसके कथनानन्तर प्रतिज्ञा का पुनर्वचन करेंगे कि वाक्यपूर्ण हो जाय! दूसरी बात यह है कि उदाहरण के न कहने पर किसके साथ समानता या असमानता मानकर साध्य की सिद्धि दिखायेंगे और किस साधर्म्य की अपेक्षा से उपसंहार करेंगे! उपनय के बिना साध्य में अनुपसंहृत साधक धर्म अर्थसिद्धि नहीं कर सकता! निगमन के बिना प्रतिज्ञादिकों का परस्पर सम्बन्ध अभिव्यक्त न हो पायगा, तब उनको एक प्रयोजन से प्रवृत्ति, 'तथा' ऐसा प्रतिपादन किसका होगा!

अब अवयवों का फलनिरूपण करते हैं—साध्य धर्म का धर्मी से सम्बन्धबोधन प्रतिज्ञा का प्रयोजन है। उदाहरण के तुल्य या विपरीत साध्य धर्म के प्रति साधकत्वबोधन ही हेतु का प्रयोजन है। लिङ्ग-लिङ्गी की व्याप्ति को एक दृष्टान्त में बोधन करना उदाहरण का प्रयोजन है। साधनभूत धर्म का साध्य धर्म से सामानाधिकरण्य बतलाना उपनय का प्रयोजन है। उदाहरण में मिले धर्मों का साध्य-साधनभाव बन जाने पर साध्य में विपरीत प्रसङ्ग का निषेध बताना निगमन का प्रयोजन है।

---

१. उदाहरणसूत्रव्याख्यावसर इत्यर्थः। २. प्रतिज्ञादिनिगमनान्तानाम्।

न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते। अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते। व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपादानम्; न साधर्म्यमात्रस्य, न वैधर्म्यमात्रस्य वेति ॥ ३९ ॥

न्यायोत्तराङ्गप्रकरणम् [४०-४१]

तर्कलक्षणम्

इत ऊर्ध्वं तर्को लक्षणीय इति। अथेदमुच्यते—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे[१] जिज्ञासा तावज्जायते—जानीयेममर्थमिति। अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति—किंस्विदित्थम्, आहोस्विन्नेत्थमिति। विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकं कारणोपपत्त्या अनुजानाति—सम्भवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति, कारणोपपत्त्या स्यात्-एवमेतन्नेतरदिति।

तत्र निदर्शनम्-योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं 'तत्त्वतो भो जानीय' इति जिज्ञासते। 'स किमुत्पत्तिधर्मकः ? अनुत्पत्तिधर्मकः ?' इति विमर्शः। विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते तमनुजानाति-'यद्ययमनुत्पत्तिधर्मकः, ततः स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्य कारणमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति स्यातां संसारापवर्गौ। उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि पुनर्न स्याताम्। उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बध्यत इति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलम्, उत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति। तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरवियोगश्चात्यन्तं न स्यात्' इति। यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानाति। सोऽयमेवंलक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते।

कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थः, न तत्त्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात्। अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति, न व्यवस्यति, न निश्चिनोति—'एवमेवेदम्' इति।

कथं तत्त्वज्ञानार्थ इति ? तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणानुग्रहभावितात्[१] प्रसन्नादनन्तरप्रमाणसामर्थ्यात्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति।

सोऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसन्दधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादेऽपदिष्ट[२] इति अविज्ञाततत्त्वमनुजानाति-यथा सोऽर्थो भवति तस्य [३]तथाभावस्तत्त्वमविपर्ययो याथातथ्यम् ॥ ४० ॥

निर्णयलक्षणम्

एतस्मिंश्च तर्कविषये—

हेतु और उदाहरण का इतना स्पष्ट व्याख्यान कर देने पर वाद में साधर्म्य तथा वैधर्म्य के प्रतिषेध से जातिनिग्रहस्थान का बाहुल्य नहीं हो पायगा; उदाहरण में लिङ्ग-लिङ्गी के धर्मों का साध्यसाधनभाव अनङ्गीकार कर जातिवादी प्रतिषेध का बाहुल्य करता है। दृष्टान्तस्थ धर्मों का साध्यसाधनभाव व्यवस्थित (प्रमित, शुद्ध) रूप से स्वीकार कर लेने पर तो साधनभूत धर्म का ही हेतुरूप से ग्रहण होगा, न कि साधर्म्यमात्र या वैधर्म्यमात्र के हेतुत्व का ॥ ३९ ॥

अवयवनिरूपण के बाद **तर्क का लक्षण** दिखाना चाहिये, अतः अब उसे कहते हैं—

सम्यक्तया अविज्ञात अर्थ में कारणोपपत्ति द्वारा उसके तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करना 'तर्क' कहलाता है ॥ ४० ॥

भली भाँति न जाने हुए अर्थ को जानने की इच्छा होती है—'इस अर्थ को जान लूँ'। तदनन्तर उस जिज्ञासित वस्तु के विरुद्ध धर्मों पर विभागशः विचार करता है—'क्या यह ऐसी है' या 'क्या यह ऐसी नहीं है'। दोनों धर्मों पर विचार करता हुआ वह किसी एक धर्म के बारे में कारणोपपादन से अनुमान करता है कि 'इसमें यह कारण, यह हेतु, यह प्रमाण स्पष्ट है'। कारणोपपादन से यह ऐसा ही है या ऐसा नहीं है'।

उदाहरण—कोई प्रमाता ज्ञातव्य अर्थ को साधारणतः जानता है, तब उसे 'अरे, इसे सम्यक्तया (भली भाँति) जान लूँ'—ऐसी जिज्ञासा होती है। 'यह ज्ञातव्य अर्थ उत्पत्तिधर्मक है या अनुत्पत्तिधर्मक ?'—यह 'विमर्श' कहलाता है। उस अविज्ञाततत्त्व वाले अर्थ का विमर्श करने पर जिस धर्म की स्वीकृति का कारण उपपन्न हो जाय, उसका वह अनुमान करता है। जैसे—''यदि यह ज्ञाता अनुत्पत्तिधर्मक है तो स्वकृत कर्मफल का अनुभव करता है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान—ये उत्तरोत्तर अपने से पूर्व के कारण हैं, उत्तरोत्तर के अपाय से बाद में कुछ शेष नहीं रह जाता, तब मोक्ष हो जाता है। अतः उस ज्ञाता के संसार तथा अपवर्ग—दोनों हो सकते हैं। उस ज्ञाता के उत्पत्तिधर्मा होने पर ये—संसार तथा अपवर्ग, उसको नहीं बनेंगे; क्योंकि उत्पन्न ज्ञाता देह, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना से सम्बद्ध रहता है, इसलिये यह स्वकृत कर्म का फल नहीं बन सकता (क्योंकि वह ज्ञाता अनित्य होने से कालान्तरभावी फल का अधिकरण नहीं बन सकता)। उत्पन्न होकर वह पुनः न उत्पन्न हो-यों अपना विनाश या निरोध होने पर स्वकृतकर्म-फल वह कैसे भोगेगा! इस तरह एक का अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध, तथा वियोग भी नहीं बनेगा।'' जहाँ कारण उत्पन्न नहीं होता वहाँ वह कोई अनुमान भी नहीं कर पाता। इस तरह के लक्षणों वाली यह जिज्ञासा तर्क कहलाती है।

उक्त जिज्ञासु का वह तर्क 'तत्त्वज्ञान के लिये' क्यों कहा जाय, उसे 'तत्त्वज्ञान' ही क्यों न मान लिया जाय ? अवधारण (निश्चय) न होने से उसे तत्त्वज्ञान नहीं कहा जा सकता। वह कारणोपपत्ति से किसी एक धर्म को लेकर समझने से अनुमान ही कर पाता है, उनमें भेद नहीं कर पाता, न उनके भेद का प्रयास करता है। न 'यह ऐसा ही है'—यों निश्चयकर पाता है!

यह 'तत्त्वज्ञान के लिये' कैसे है ? तत्त्वज्ञानविषय अभ्यनुज्ञायुक्त जिज्ञासा से भली भाँति भावित होने के बाद प्रमाण का समर्थन पाकर तत्त्वज्ञान होता है—इसलिये 'तत्त्वज्ञान के लिये' कहा।

ऐसा यह तर्क प्रमाणों का समर्थन करता हुआ प्रमाणस्वीकृति से प्रमाणों के साथ हुआ वाद में व्यवहृत होता है। यों वह जिज्ञासु अविज्ञात तत्त्व का अभ्यनुज्ञान करता है—'जो अर्थ जैसा है उसका वैसा ही होना तत्त्व है'। इसे ही 'अविपर्यय' या 'याथातथ्य' कहते हैं ॥ ४० ॥

इस तर्क के विषय में—

---

१. अविज्ञायमान०-पाठा०।

१. '०णादूहाद्धा०' इति पाठा०।

२. 'उपदिष्टः', कुत्रचिच्च 'प्रदिष्टः' इति पाठा०।

३. 'यथाभावः' इति पाठा०।

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

स्थापना=साधनम्, प्रतिषेधः=उपालम्भः। तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्यते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिः, एकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि। यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः।

नेदं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं सम्भवतीति, एको हि प्रतिज्ञातमर्थं हेतुतः स्थापयति, प्रतिषिद्धं[1] चोद्धरति द्वितीयस्य। द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिध्यते, तस्यैव प्रतिषेधहेतुश्चोद्धियते स निवर्त्तते, तस्य निवृत्तौ योऽवतिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णय इति?

उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह। कया युक्त्या? एकस्य सम्भवो द्वितीयस्यासम्भवः, तावेतौ सम्भवासम्भवौ विमर्शं सह निवर्त्तयत उभयसम्भवे। उभयसम्भवे त्वनिवृत्तौ विमर्श इति।

विमृश्येति विमर्शं कृत्वा। सोऽयं विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य[2] न्यायं प्रवर्तयतीत्युपादीयत इति।

एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिकस्थयोर्बोद्धव्यम्। यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः; हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः। यथा 'क्रियावद् द्रव्यम्' इति

विचार कर पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय करना 'निर्णय' कहलाता है ॥ ४१ ॥

वाद में स्वपक्षस्थापन साधन है, परपक्षप्रतिषेध उपालम्भ है, ये साधन उपालम्भ क्रमशः पक्षप्रतिपक्षाश्रित है, एक दूसरे के विरुद्ध हैं, परन्तु साथ (एक वाद में) ही रहते हैं, इन्हें ही पक्ष-प्रतिपक्ष कह देते हैं। (वाद में) इन दोनों में से किसी एक की निवृत्ति तथा एक की स्थापना अवश्यम्भावी है। जिसकी स्थापना हो उसका निश्चय करना ही 'निर्णय' कहलाता है।

शङ्का-यह पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थावधारण नहीं बन पायगा; क्योंकि इसमें वादी पक्ष प्रतिज्ञात अर्थ की स्थापना हेतु से उपस्थित करता है, तब प्रतिवादी=प्रतिपक्ष उस स्थापनाहेतु का खण्डन करता है। पुनः वादी प्रतिवादी के मत का निराकरण कर स्वस्थापनाहेतु का खण्डन करता है। यों अन्त में एक के ही विजयी होने पर दूसरे के हट जाने से पक्ष या प्रतिपक्ष में से किसी एक के ही निर्णय की स्थिति बनेगी, अतः सूत्र में 'पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा'—यह पद निरर्थक है?

समाधान—दोनों से अर्थावधारण होता है—ऐसा ही मानते हैं। किस युक्ति से? एक (वादी) का स्थापनापक्ष 'संभव' तथा दूसरे (प्रतिवादी) का खण्डनपक्ष 'असम्भव' कहलाता है, ये दोनों (सम्भव और असम्भव) मिलकर ही विमर्श (संशय) की निवृत्ति करते हैं। दोनों (वादी-प्रतिवादी) के होने पर तो वह (वाद) निवृत्त नहीं होगा, अतः विमर्श ही कहलायगा, 'निर्णय', नहीं।

सूत्र में 'विमृश्य' का अर्थ है विमर्श करके। यह विमर्श पक्ष-प्रतिपक्ष को नियम से स्वविषय बनाकर न्याय को प्रवृत्त करता है, अतः वाद में इसका ग्रहण करना आवश्यक है।

तथा विरुद्ध होते हुए एकधर्म में रहने वाले सम्भव असम्भव का ही यह विमर्श समझना चाहिये। यह विरोध व्यक्तिभेद और कालभेद से द्विविध है। जहाँ दोनों विरुद्ध धर्म धर्मिसामान्य में ही युक्ति द्वारा व्यवस्थित हैं, वह 'समुच्चय' (सामान्य मेलन) कहलाता है; क्योंकि हेतु से विरुद्ध-धर्मद्वयोपपत्ति होती है, जैसे—'द्रव्य क्रियावान् है' इस लक्षणवाक्य में जिस द्रव्य का क्रियायोग हेतु

१. प्रतिपक्षधर्ममित्यर्थः। वाद्युक्तहेतोर्दूषणमिति भावः।

२. नियमेन विषयीकृत्य।

लक्षणवचने यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत् क्रियावत्, यस्य न सम्भवति तदक्रियमिति। एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोर्धर्मयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः, यथा—तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं क्रियावत्, अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति।

न चायं निर्णये नियमः—विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति; किन्त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णय इति। परीक्षाविषये तु विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः, शास्त्रे वादे च विमर्शवर्जम् ॥ ४१ ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

●

से सम्भव है वह 'क्रियावान्' है, जिसका क्रियायोग सम्भव नहीं है, वह 'अक्रिय' है। तथा ऐसे धर्म जो विरुद्ध हों, तथा एकधर्मी में रहते हों, परन्तु एककालावच्छिन्न न (अयुगपद्भावी) हों, वे 'कालविकल्प' कहलाते हैं। जैसे—वही द्रव्य जब क्रियायुक्त रहता है तब 'क्रियावान्' कहलाता है, जब वह अनुत्पन्नोपरतक्रिय (जिसमें क्रिया न रहे) हो तो 'अक्रिय' कहलाता है।

निर्णय में यह नियम नहीं है कि वह सन्देह करके पक्ष-प्रतिपक्ष से अर्थावधारण करे तभी निर्णय कहलाये; अपितु इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्षविषयक अर्थ का अवधारण भी निर्णय कहलाता है। परीक्षास्थलों में ही विमर्श करके पक्षप्रतिपक्ष से अर्थावधारण निर्णय कहलाता है, शास्त्र और वाद के स्थलों में इस निर्णय-लक्षण में 'विमृश्य' पद की आवश्यकता नहीं है ॥ ४१ ॥

वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य (सहित न्यायदर्शन) में प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक का व्याख्यान समाप्त ॥

●

[अथ द्वितीयमाह्निकम्]

कथालक्षणप्रकरणम् [१-३]

वादलक्षणम्

तिस्रः कथा[१] भवन्ति—वादः, जल्पः, वितण्डा चेति। तासाम्—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ १ ॥

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ, प्रत्यनीकभावाद्—अस्त्यात्मा, नास्त्यात्मेति। नानाधिकरणस्थौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ, यथा-नित्य आत्मा, अनित्या बुद्धिरिति। परिग्रहः=अभ्युपगमव्यवस्था। सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। तस्य विशेषणं **प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः**—प्रमाणतर्कसाधनः, प्रमाणतर्कोपालम्भः। प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति। साधनम्=स्थापना। उपालम्भः=प्रतिषेधः। तौ साधनोपालम्भौ उभयोरपि पक्षयोर्व्यतिषक्तावनुबद्धौ च यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति निवृत्तस्योपालम्भः, व्यवस्थितस्य साधनमिति।

जल्पे निग्रहस्थानविनियोगाद् वादे तत्प्रतिषेधः। प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञानार्थम् '**सिद्धान्ताविरुद्धः**' इति वचनम्। 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' (१.२.६) इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे।

[द्वितीय आह्निक]

वाद, जल्प, वितण्डा भेद से कथा तीन प्रकार की होती है, उनमें **वाद** का लक्षण हैं—

प्रमाण तथा तर्क द्वारा स्वपक्षस्थापन एवं परपक्षनिषेध से युक्त, सिद्धान्त के अनुकूल, प्रतिज्ञादि पञ्चावयव सम्पन्न, पक्ष-प्रतिपक्षसहित वाक्यसमूह को 'वाद' कहते हैं॥ १ ॥

एक अधिकरण में रहनेवाले, परस्पर विरोधी होने से विरोधी धर्म एक दूसरे के पक्ष-प्रतिपक्ष कहलाते हैं। जैसे—'आत्मा है' और 'आत्मा नहीं है', ये दोनों वाक्य एक दूसरे के पक्ष-प्रतिपक्ष हैं, क्योंकि एक ही अधिकरण की सत्ता का स्थापन या निषेध किया जा रहा है। अनेक अधिकरणवाले विरोधी धर्म परस्पर पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं बन पाते। जैसे 'आत्मा नित्य है' और 'बुद्धि अनित्य है'—ये दोनों वाक्य परस्पर में पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं बन सकते; क्योंकि यहाँ नित्यता-अनित्यता की स्थापना या निषेध पृथक् अधिकरण में किया जा रहा है। **परिग्रह**=स्वीकृति की व्यवस्था। ऐसा यह पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रह 'वाद' कहलाता है। '**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ**' वाद का विशेषण है। अर्थात् इस वाद में प्रमाण तर्क (स्वपक्ष) में उपस्थित किये जाते हैं तथा (परपक्ष के) प्रमाण तर्क का खण्डन होता है। '**साधन**' का अर्थ है 'स्थापना', उपालम्भ का अर्थ है 'प्रतिषेध'। ये साधन और उपालम्भ दोनों ही पक्षों में लगे हुए हैं, उनमें अनुबद्ध है। जहाँ एक निवृत्त हुआ दूसरा स्थित हो ही जायगा। संक्षेप में निवृत्त का निषेध तथा व्यवस्थित की स्थापना ही वाद का लक्ष्य है।

क्योंकि निग्रहस्थान को जल्प में स्वीकार किया गया है, अतः उसका वाद में प्रयोग नहीं होता। निग्रहस्थान के निषिद्ध होने पर भी किसी एक की अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) के लिये लक्षण में

---

१. 'नानाप्रवक्तृकविचारविपया वाक्यसन्दृब्धिः कथा'-इति तात्पर्यटीकासम्मतं कथालक्षणम्।

'**पञ्चावयवोपपन्नः**' इति—'हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्' (५.२.१२), 'हेतूदाहरणाधिकमधिकम्' (५.२.१३) इति च-एतयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति।

अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावे, पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भव्यतिषङ्गज्ञापनार्थम्। अन्यथोभावपि पक्षौ स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात्। अन्तरेणापि चावयवसम्बन्धं प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टम्, तेनापि कल्पेन 'साधनोपालम्भौ वादे भवतः' इति ज्ञापयति। 'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः' इति वचनाद् विनिग्रहो जल्प इति मा विज्ञायि, छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ एव जल्पः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद एव-इति मा विज्ञायि—इत्येवमर्थं पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणमिति॥ १ ॥

जल्पलक्षणम्

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ २ ॥

यथोक्तोपपन्न इति। प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः[१]। **छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ** इति। छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनम्, उपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति एवंविशेषणो जल्पः।

सिद्धान्ताविरुद्ध पद दिया गया है। 'अभ्युपेतसिद्धान्त के विरोध में जो अर्थ है वह विरुद्ध होता है' (१.२.६)—इस 'विरुद्ध' हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान की वाद में स्वीकृति है।

पञ्चावयवोपपन्न पद ''पञ्चावयवों में किसी एक अवयव से हीन वाक्य का प्रयोग 'हीन' निग्रहस्थान होता है'' (५.२.१२) तथा ''एक से कार्य सिद्ध होनेपर भी वाक्य में अधिक हेतु या उदाहरणों का प्रयोग 'अधिक' निग्रहस्थान कहलाता है'' (५.२.१३) इन दोनों निग्रहस्थानों की स्वीकृति के लिये है।

अवयवों में प्रमाण तथा तर्क का अन्तर्भाव हो सकने पर भी उनका लक्षण में पृथक् ग्रहण स्थापना तथा निषेध का व्यतिषङ्ग (अनुबन्ध) बतलाने के लिये किया है। अन्यथा वाद में प्रवृत्त दोनों ही पक्ष अपने अपने अर्थ की स्थापनामात्र करेंगे, तब पक्षस्थापनामात्र 'वाद' कहलाने लगेगा। तथा अवयव-सम्बन्ध के विना भी प्रमाण अर्थ की साधना कर देते हैं—ऐसा लोक में देखा जाता है। इस कल्प में प्रमाण से 'स्थापना' और 'प्रतिषेध' वाद में हो सकते हैं—यह ज्ञापित करते हैं।

उक्त दोनों पदों के ग्रहण का यह भी प्रयोजन है कि अनुपद वक्ष्यमाण 'छल जाति-निग्रहस्थान-साधनोपालम्भयुक्त पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रह जल्प कहलाता है' (१.२.२)-इस वचन से 'जल्प वादगत निग्रहरहित होता है'—ऐसा न समझ ले। अथ च, यह भी न समझ बैठे कि 'छल-जाति-निग्रहस्थान साधनोपालम्भ ही जल्प है' या 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ ही वाद होता है'। इस सबको हृदय में रखकर सूत्रकार ने 'वाद' के लक्षण में प्रमाण तथा तर्क का ग्रहण किया है॥ १ ॥

उक्त वाद के लक्षणों से युक्त तथा छल, जाति, निग्रहस्थानों से स्थापना और प्रतिषेध वाले पक्ष-प्रतिपक्षों का परिग्राहक वाक्यसमूह 'जल्प' कहलाता है॥ २॥

यथोक्तोपपन्न पद से वादलक्षणोक्त प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ सिद्धान्ताविरुद्ध पञ्चावयवोपपत्र पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रह समझना चाहिये। **छलजाति-निग्रहस्थानसाधनोपालम्भ** पद से सूत्रकार कहना

---

१. एतस्मिन्नर्थे वार्त्तिककारस्यारुचिः। स तु 'सिद्धान्ताविरुद्धः', 'पञ्चावयवोपपन्नः' इति वादलक्षणस्थे पदे नियमार्थे एवेत्याह।

न खलु वै छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्यचिदर्थस्य सम्भवति, प्रतिषेधार्थतैवैषां सामान्यलक्षणे विशेषलक्षणे च श्रूयते-'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्' (१.२.१०) इति, 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' (१.२.१८), 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' (१.२.१९) इति। विशेषलक्षणेष्वपि यथास्वमिति। न चैतद्विजानीयात्—प्रतिषेधार्थतयैवार्थं साधयन्तीति, छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्प इत्येवमप्युच्यमाने विज्ञायत एतदिति ?

प्रमाणैः साधनोपालम्भयोश्छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः; स्वपक्षरक्षणार्थत्वात्, न स्वतन्त्राणां साधनभावः। यत्तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः, स्वपक्षरक्षणार्थत्वात्। तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति। तथा चोक्तम्—'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्' (४.२.५०) इति। यश्चासौ प्रमाणैः प्रतिपक्षस्योपालम्भस्तस्य चैतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविघातात् सहकारीणि भवन्ति। तदेवमङ्गीभूतानां छलादीनामुपादानं जल्पे, न स्वतन्त्राणां साधनभावः। उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति॥ २॥

वितण्डालक्षणम्

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा॥ ३॥

चाहते हैं कि छल, जाति, निग्रहस्थानों से जिस कथा में स्थापना तथा प्रतिषेध किया जाये वह 'जल्प' है।

शङ्का—छल, जाति, निग्रहस्थानों से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती, उलटे इनके सामान्य लक्षणों या विशेष लक्षणों में प्रतिषेधार्थता ही सुनने में आती है। जैसे—'अर्थविकल्पोपपादन द्वारा वचनविघात 'छल' कहलाता है' (१.२.१०), 'साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा अर्थ का प्रतिषेध करना 'जाति' कहलाती है' (१.२.१८), 'अर्थ की विप्रतिपति या अप्रतिपत्ति 'निग्रहस्थान' कहलाता है' (१.२.१९)—ये इनके सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षणों में भी इसी तरह समझें। यदि यह कहें कि प्रयोक्ता को यह ज्ञात कराने के लिये कि 'प्रतिषेधार्थता से ही ये तीनों अर्थ की सिद्धि करते हैं' ये लक्षण किये हैं तो 'छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भ ही जल्प होता है' इतना लक्षण करने से भी यह बात ज्ञात हो जाती ?

समाधान—प्रमाणों द्वारा स्वपक्षस्थापन तथा परपक्षप्रतिषेध में ये तीनों सहायक हैं; क्योंकि ये तीनों ही स्वपक्षरक्षण करते हैं। हाँ, ये स्वातन्त्र्येण कोई अर्थसिद्धि नहीं करते, अपितु प्रमाणों द्वारा की जा रही अर्थसिद्धि में स्वपक्षरक्षण-कार्य द्वारा सहायक होते हैं। इनका प्रयोग किया जाय तो परपक्ष-खण्डन द्वारा भी स्वपक्षरक्षण करते हैं। इसीलिये आगे कहा है—'जल्प, वितण्डा का प्रयोग तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षण के लिये होता है, जैसे छोटे-छोटे पौधों की रक्षा के लिये उनके चारों ओर काँटेदार झाड़ी लगा दी जाती है' (४.२.५०)। प्रमाणों द्वारा प्रतिपक्ष के निषेध में वादी द्वारा प्रयुक्त हुए ये तीनों अपने प्रतिषेधविघातक कार्य द्वारा सहायक होते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि जल्प में स्वपक्षस्थापना के लिये छलादि का ग्रहण 'अर्थसाधन के सहायक' रूप में होता है, न कि स्वतन्त्रतया। हाँ, परपक्षप्रतिषेध में ये स्वतन्त्र रूप से भी प्रयुक्त हो सकते हैं॥ २॥

उपर्युक्त जल्प जब प्रतिपक्षस्थापनाहीन होता है तो 'वितण्डा' कहलाता है॥ ३॥

स जल्पो वितण्डा भवति। किंविशेषणः ? प्रतिपक्षस्थापनया हीनः। यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तम्, तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति, परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्त्तत इति।

अस्तु तर्हि स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा? यद्वै खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं स वैतण्डिकस्य पक्षः, न त्वसौ साध्यं कञ्चिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति। तस्माद्यथान्यासमेवास्त्विति॥ ३॥

हेत्वाभासप्रकरणम् [४-९]

हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः। त इमे—

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः॥ ४॥

(क) सव्यभिचारलक्षणम्

तेषाम्—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः॥ ५॥

व्यभिचारः=एकत्राव्यवस्थितिः[१]। सह व्यभिचारेण वर्त्तते इति सव्यभिचारः। निदर्शनम्—'नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टः, न च तथा स्पर्शवान् शब्दः, तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्दः' इति। दृष्टान्ते—स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वं च धर्मौ न साध्य-

---

वह जल्प 'वितण्डा' भी हो सकता है। कब ? जब वह प्रतिपक्ष-स्थापना से रहित हो। हम अनुपद में ही एकाधिकरणक दो विरुद्ध धर्मों को 'पक्ष-प्रतिपक्ष' कह आये हैं (१.२.१), यह वितण्डावादी उनमें से एक की भी स्थापना करने में कोई रुचि नहीं लेता, केवल परपक्षखण्डन में ही लगा रहता है।

क्यों न तब 'प्रतिपक्षहीन जल्प वितण्डा है'—इतना ही लक्षणसूत्र रक्खा जाय ? वितण्डावादी का परपक्षखण्डनपरक वाक्य ही औपचारिक रूप से उसका 'पक्ष' है! हाँ, यद्यपि वह स्पष्टरूप से किसी साध्य अर्थ की प्रतिज्ञा कर अपना कोई पक्ष नहीं रखता; फिर भी किसी न किसी रूप में उसका भी प्रतिपक्ष बन ही सकता है, अतः सूत्रकारोक्त लक्षण ही उचित है॥ ३॥

हेत्वाभास—हेतुलक्षण न घटने से वस्तुतः जो अहेतु हों, परन्तु हेतु सादृश्य से जिनका हेतु की तरह आभास (प्रतीति) होता हो, वे 'हेत्वाभास' कहलाते हैं। वे ये हैं—

१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम तथा ५. कालातीत—ये पाँच 'हेत्वाभास' कहलाते हैं॥ ४॥

उनमें—

जो (हेतु) एक ही (साध्य तथा साध्याभाव) के अन्त (अधिकरण) में न रहे उसे 'सव्यभिचार' हेत्वाभास कहते हैं॥ ५॥

'व्यभिचार' से तात्पर्य है—एक जगह न रहना। व्यभिचार के साथ जो प्रवृत्त हो वह 'सव्यभिचार' कहलाता है। इसका उदाहरण—'**शब्द नित्य है, अस्पर्श होने से**; लोक में स्पर्शवान् घट अनित्य देखा गया है, शब्द स्पर्शवान् नहीं है अतः अस्पर्शत्वहेतु से वह नित्य है'। यहाँ दृष्टान्तस्थ

---

१. ०व्यवस्था-इति पाठा०।

साधनभूतौ दृश्येते, स्पर्शवाँश्चाणुर्नित्यश्चेति। आत्मादौ च दृष्टान्ते—'उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः' (१.१.३४) इति अस्पर्शत्वादिति हेतुर्नित्यत्वं व्यभिचरति—'अस्पर्शा बुद्धिरनित्या च' इति। एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात् साध्यसाधनभावो नास्तीति लक्षणाभावादहेतुरिति।

नित्यत्वमप्येकोऽन्तः, अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः, एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति ऐकान्तिकः, विपर्ययादनैकान्तिकः; [१]उभयान्तव्यापकत्वादिति ॥ ५ ॥

(ख) विरुद्धलक्षणम्

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥

तं विरुणद्धीति तद्विरोधी, अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति। यथा—'सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्', न नित्यो विकार उपपद्यते। 'अपेतोऽपि विकारोऽस्ति, विनाशप्रतिषेधात्'। सोऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते। कथम्? व्यक्तिः=आत्मलाभः, अपायः=प्रच्युतिः; यद्यात्मलाभात् प्रच्युतो विकारोऽस्ति? नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते। यद्व्यक्तेरपेतस्यापि विकारस्यास्तित्वं तत् खलु नित्यत्वमिति। नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यात्मलाभात् प्रच्युतेरुपपत्तिः। यदात्मलाभात् प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टम्, यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते। अस्तित्वं चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति चविरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्त्तते तमेव व्याहन्तीति।

स्पर्शवत्त्व अनित्यत्व हेतुओं में साध्यसाधनभाव नहीं देखा जाता; क्योंकि स्पर्शवान् भी अणु और नित्य हो सकता है। आत्मा आदि दृष्टान्तस्थ ''उदाहरणसादृश्य से साध्य का साधक 'हेतु' है'' (१.१.३४)—इस हेतुलक्षण से 'अस्पर्शत्व' हेतु नित्यत्व से व्यभिचरित होगा; क्योंकि बुद्धि अस्पर्शवती होती हुई भी अनित्य है। इस प्रकार दोनों ही तरह के दृष्टान्तों में साध्यसाधनभाव न होने से हेतुलक्षण नहीं घट पायगा, अतः वह हेतु नहीं बन सकता।

यहाँ नित्यत्व एक अन्त है, अनित्यत्व भी एक अन्त है। एक अन्त (अधिकरण) में साध्यसाधनभाव रहे अतः 'ऐकान्तिक' हेतु कहते हैं। इसके विपरीत 'अनैकान्तिक' कहलाता है; क्योंकि वह दोनों अन्तों में व्याप्त रहता है ॥ ५ ॥

जो हेतु अभ्युपगतार्थ का विरोधी हो वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहलाता है ॥ ६ ॥

उसका जो विरोध करे वह हुआ 'तद्विरोधी' अर्थात् जो प्रतिज्ञा तथा हेतु से प्रकाशित सिद्धान्त का विरोध करे। जैसे साङ्ख्य का मत है—'परिणामाख्य कार्य अभिव्यक्त स्वरूप से विश्लिष्ट हो जाता है, अनित्य होने से', 'अभिव्यक्तिरहित वह परिणामाख्य कार्य रहता भी है, स्वरूपहानि न होने से'; यहाँ 'विकार नित्य उपपन्न नहीं होता' यह हेतु 'व्यक्ति से असंश्लिष्ट होकर भी विकार रहता है, स्वरूपहानि न होने से' इस स्वसिद्धान्त से विरुद्ध पड़ता है। कैसे? 'व्यक्ति' कहते हैं आत्मलाभ को, 'प्रच्युति' कहते हैं असंश्लेष को। उसमें नित्यत्वप्रतिषेध उपपन्न नहीं है, क्योंकि आत्मसत्ता से पृथक् होकर भी विकार रहे—यही उसका नित्यत्व है; क्योंकि नित्यत्वप्रतिषेध का तात्पर्य है—विकार का आत्मसत्ता से प्रच्युति का उपपादन अर्थात् जो आत्मलाभ से प्रच्युत नहीं होता। अस्तित्व तथा

---

१. 'उभयत्र'-इति पाठा०।

(ग) प्रकरणसमलक्षणम्

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥

विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ प्रकरणम्। तस्य चिन्ता=विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयाद्यत्समीक्षणम्। सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते।

प्रज्ञापनं तु—'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः' इति। अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि। 'नित्यः[१] शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमाकाशादि[१]।

यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयसमः सव्यभिचार एव। या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता उभयपक्षविशेषानुपलब्धिश्च सा प्रकरणं प्रवर्तयति। यथा—शब्दे नित्यधर्मो नोपलभ्यते, एवमनित्यधर्मोऽपि; सेयमुभयपक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयति। कथम्? विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः। यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्येत, न स्यात्प्रकरणम्। यदि वा अनित्यधर्मो गृह्येत, एवमपि निवर्तेत प्रकरणम्। सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय न प्रकल्पते ॥ ७ ॥

आत्मलाभ से प्रच्युति—ये दोनों विरुद्ध धर्म एकत्र नहीं रह सकते। इस प्रकार यह नित्यत्वप्रतिषेध हेतु जिस सिद्धान्त को लेकर प्रवृत्त हुआ था, उसी का व्याघात कर रहा है ॥ ६ ॥

जिसको लेकर प्रकरण पर विचार किया जा रहा हो और वही निर्णय के लिये प्रयुक्त हो वह हेतु 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहलाता है ॥ ७ ॥

संशयाधिष्ठान अनिर्णीत पक्ष-प्रतिपक्ष ही 'प्रकरण' कहलाते हैं। प्रकरण की चिन्ता अर्थात् विमर्श से लेकर निर्णय तक का समीक्षण। वह जिज्ञासा जिसके कारण से ही वही निर्णय के लिये प्रयुक्त कर दिया जाय—ऐसा हेतु प्रकरण की परिधि में रहता हुआ 'प्रकरणसम' कहलाता है। ऐसा हेतु साधक या बाधक न रहने से निर्णय करने में असमर्थ है।

उदाहरण—'शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की उपलब्धि न होने से' यह अनुमान। यहाँ अनुपलभ्यमान नित्यधर्मक अनित्य भी देखा गया है, जैसे—स्थाल्यादि। 'शब्द नित्य है, अनित्यधर्म की उपलब्धि न होने से'—यहाँ भी अनुपलभ्यमान अनित्यधर्मक नित्य देखा गया है, जैसे—आकाशादि।

जहाँ संशयकारण समानधर्म हेतुरूप से दिया गया हो वह 'संशयसम' हेत्वाभास कहलाता है, जो कि सव्यभिचार हेत्वाभास में अन्तर्भूत है। विमर्श की विशेषापेक्षित उभयपक्ष-चिन्ताओं में विशेषानुपलब्धि है वही प्रकरण को प्रवृत्त करती है। जैसे शब्द में नित्यधर्म नहीं मिलता; वैसे ही अनित्यधर्म भी नहीं मिलता—यह उभयपक्ष की विशेषानुपलब्धि ही प्रकरण पर समीक्षण का प्रारम्भ करती है; क्योंकि विपरीत स्थिति होने पर प्रकरण की निवृत्ति ही हो जाती है। यदि शब्द में नित्य धर्म मानोगे तो प्रकरण उठेगा नहीं, यदि केवल अनित्य धर्म मानोगे तो भी प्रकरण की निवृत्ति ही होगी। इस प्रकार, ऐसा हेतु जो दोनों पक्षों में प्रवृत्त हो सकता हो वह किसी एक तरफ का निर्णय करने में समर्थ नहीं होता ॥ ७ ॥

१.१. अयं पाठो नास्ति क्वचित् पुस्तके।

(घ) साध्यसमलक्षणम्

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः ॥ ८ ॥

द्रव्यं छायेति साध्यम्, गतिमत्त्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः। अयमप्यसिद्धत्वात्साध्यवत्प्रज्ञापयितव्यः। साध्यं तावदेतत्—किं पुरुषवच्छायापि गच्छति, आहोस्विदावरकद्रव्ये संसर्पति, आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति? सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधिरेवाविच्छिन्नो गृह्यत इति। आवरणं तु प्राप्तिप्रतिषेधः॥ ८॥

(ङ) कालातीतलक्षणम्

कालत्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ९ ॥

कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः **कालातीतः** इत्युच्यते। निदर्शनम्—'नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूपवत्'। प्रागूर्ध्वं च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते। तथा च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात्संयोगव्यङ्ग्यत्वात् 'नित्यः शब्दः' इत्ययमहेतुः, कालात्ययापदेशात्। व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति। सति प्रदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति, न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते। निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते विभागकाले, सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिर्मिता भवति। कस्मात्? कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति। एवमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति।

साध्य से अविशिष्ट (साधनीय) हेतु स्वयं साध्य होने से 'साध्यसम' हेत्वाभास होता है॥ ८॥

'छाया द्रव्य है, गतिमान् होने से'-इस अनुमान में 'द्रव्य छाया' साध्य है, 'गतिमत्त्व' यह हेतु साध्य से अविशिष्ट ही है; क्योंकि इसकी भी साध्य की तरह सिद्धि करनी पड़ेगी, इसलिये यह 'साध्यसम' है। अर्थात् यह हेतु भी असिद्ध है, अतः साध्य की तरह इसे भी सिद्ध करना पड़ेगा!

इस अनुमान में साध्य है-क्या पुरुष की छाया वस्तुतः चलती है, या आवश्यक द्रव्य में छिप जाती है, या यह आवरणसन्तान से तेज की असन्निधिसन्तान रूप ही तो नहीं है! चलते हुए द्रव्य से तेज का जो जो भाग आवृत हो जाता है उससे उस तेज की अविच्छिन्न असन्निधि ही तो 'छाया' कहलाती है। आवरण से तात्पर्य है प्राप्ति-प्रतिषेध॥ ८॥

जिस प्रयुज्यमान हेतु का एकदेश कालात्यय से युक्त हो वह 'कालातीत' हेत्वाभास कहलाता है॥ ९॥

जिस अर्थानुमान में प्रयुज्यमान हेतु का एकदेश कालात्यय से युक्त हो वह कालात्ययापदिष्ट 'कालातीत' कहलाता है। उदाहरण—'शब्द नित्य है, संयोगव्यङ्ग्य होने से, रूप की तरह'। जैसे पहले या पीछे घट व्यक्ति में रहा हुआ रूप प्रदीपघट-संयोग से व्यक्त हो जाता है, इसी तरह निहित (अव्यक्त) शब्द भेरीदण्डसंयोग से या कुठार और काष्ठ के संयोग से व्यक्त हो जाता है; अतः 'संयोगव्यङ्ग्य होने से शब्द नित्य है' में 'संयोगव्यङ्ग्य' यह हेतु नहीं बनेगा; क्योंकि यहाँ कालात्ययापदेश है। व्यङ्ग्य रूप की अभिव्यक्ति व्यञ्जक संयोग के काल को अतिक्रान्त नहीं करती। घटप्रदीपसंयोग होने पर ही रूप की अभिव्यक्ति होती है, संयोग के निवृत होने पर नहीं हो पाती; परन्तु (हेतुवाक्यावयव में) भेरीदण्डसंयोग के निवृत्त होने पर दूरस्थ शब्द संयोगाभाव काल में सुनायी

अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः[१]। कस्मात्?

''यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्''॥

इत्येतद्वचनाद्विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधर्म्यात्तथा वैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति। अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति।

'अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्' (५.२.११) इति निग्रहस्थानमुक्तम्, तदेवेदं पुनरुच्यत इति, अतस्तन्न सूत्रार्थः॥ ९॥

छलप्रकरणम् [१०-१७]

छललक्षणम्

अथ छलम्—

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्॥ १०॥

न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुम्, विभागे तूदाहरणानि॥ १०॥

विभागश्च—

देता है, यों यह शब्द की अभिव्यक्ति संयोगकाल को अतिक्रान्त कर जाती है। अतः यह संयोगोत्पन्न नहीं कही जा सकती; सिद्धान्त यह है—कारणाभाव से कार्याभाव होता है। इस नय से यह हेतु उदाहरणसादृश्य न मिलने से साध्य का साधक नहीं बन सकता, अतः यह हेत्वाभास है।

[बौद्ध नैयायिक इस सूत्र का अन्यथा व्याख्यान करते हैं—'प्रतिज्ञा' के बाद उदाहरणादि का पूर्वकाल हेतुवचन के उस काल को अतिक्रान्त कर जाता है, अतः यह हेतुवचन 'कालात्ययापदिष्ट' है। इसका खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं-] प्रतिज्ञादि अवयवों में विपर्यास बताना सूत्र का अर्थ नहीं है; क्योंकि—

'जिसका जिसके साथ अर्थसम्बन्ध होता है, वह अर्थसम्बन्ध उसके दूरस्थ होने पर भी हो ही जायगा, असमर्थ का अर्थ से आनन्तर्य विरोधी नहीं हुआ करता'॥

इस वचनप्रमाण द्वारा विपर्यास से कहा हुआ हेतु भी उदाहरण के सादृश्य या वैसादृश्य से अपने हेतुत्व को नहीं छोड़ेगा। अतः उसने अपना हेतुलक्षण नहीं छोड़ा, तब वह हेतु हेत्वाभास क्यों कर हो सकेगा!

दूसरी बात यह भी है—आगे निग्रहस्थानवर्णनप्रसङ्ग (५.२.११) में भी 'अवयव-विपर्यासबोधक अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान बताया जायगा, इस सूत्र का उपर्युक्त अर्थ करने पर वहाँ पुनरुक्तिदोष होगा, अतः यह सूत्रार्थ नहीं॥ ९॥

अब 'छल' का लक्षण कहते हैं—

प्रतिवादी के अभिमत अर्थ से विरुद्ध कल्पनोपपादन वचनविघात 'छल' कहलाता है॥ १०॥

[वादी, प्रमादी या प्रतिवादी द्वारा समीचीन उत्तर न देने की दशा में विजयकामना से तदाभास उत्तर भी दे डालता है, सूत्रकार उसी का अब विवेचन कर रहे हैं। इनमें 'जात्युत्तर' स्वपक्ष में भी हानि पहुँचा डालता है, अतः उससे पहले छल का बोध कराना ही उचित है।]

---

१. बौद्धाभिमतसूत्रार्थखण्डने प्रक्रमते भाष्यकारः।

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलञ्चेति॥ ११ ॥

वाक्छललक्षणम्

तेषाम्—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्॥ १२ ॥

'नवकम्बलोऽयं माणवकः' इति प्रयोगः। अत्र 'नवः कम्बलोऽस्य' इति वक्तुरभिप्रायः। विग्रहे तु विशेषः, न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थम्-'नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता' इति कल्पयति, कल्पयित्वा चासम्भवेन प्रतिषेधति- 'एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः' इति। तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति।

अस्य प्रत्यवस्थानम्—सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषवचनम्। 'नवकम्बलः' इत्यनेकार्थाभिधानम्—'नवः कम्बलोऽस्य' इति, 'नव कम्बला अस्य' इति। एतस्मिन् प्रयुक्ते येयं कल्पना 'नव कम्बला अस्य' 'इत्येतद्भवताऽभिहितं तच्च न सम्भवति' इति, एतस्यामन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषो वक्तव्यः। यस्माद्विशेषोऽर्थविशेषेषु विज्ञायते—अयमर्थोऽनेनाभिहित इति, स च विशेषो नास्ति। तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति।

प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभिधेयनियमनियोगः। 'अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेयः' इति समानः सामान्यशब्दस्य, विशेषो विशिष्टशब्दस्य। प्रयुक्तपूर्वाश्चेमे शब्दा

इस छल के सामान्य लक्षण का उदाहरण मिलना असम्भव है। हाँ, इसका विभाग करने पर उन विभागों के उदाहरण दिये जा सकते हैं॥ १० ॥

अतः अब उसका विभाग किया जा रहा है—

१. वाक्छल, २. सामान्यछल, तथा ३. उपचारछल—यों वह तीन प्रकार का होता है॥ ११ ॥

उनमें समासादिवृत्तिविषयक वाक्छल का व्याख्यान करते हैं—

सामान्येन कथित अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना 'वाक्छल' कहलाता है॥ १२ ॥

जैसे 'नवकम्बल वाला यह माणवक है' इस वाक्य में 'नवकम्बल' शब्द से वक्ता का अभिप्राय बहुव्रीहि समास द्वारा 'नवीन कम्बल वाला' में है। इस शब्द के विग्रह में विशेषता है, समास में नहीं। वहाँ यह छलवादी, वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अन्य अर्थ—'नौ हैं कम्बल जिसके' की कल्पना कर असम्भव अर्थ से उसका खण्डन करता है—'अरे इसके पास तो एक ही कम्बल है, नौ कहाँ से आये!' यह सामान्येन कथित अर्थबोधक वाक् (वाणी) में छल 'वाक्छल' कहलाता है।

इसका प्रतीकार यों है—सामान्य शब्द के अनेकार्थक होनेपर किसी एक की कल्पना के लिये विशेषतया कथन करना पड़ता है। 'नवकम्बल' यह शब्द अनेकार्थाभिधायी है—'नया है कम्बल जिसके' या 'नौ हैं कम्बल जिसके'। इस शब्दप्रयोग में आपकी 'नौ हैं कम्बल जिसके' यह कल्पना सम्भव नहीं है; क्योंकि अनेकों में किसी विशिष्ट एक की कल्पना करने से पूर्व तद्बोधक कोई विशिष्ट वचन करना चाहिये, जिससे वह विशेष अर्थ जाना जा सके कि इस शब्द द्वारा यहाँ यही अर्थ बोधित है। वैसा विशेष यहाँ कुछ नहीं कहा गया, अतः आपका यह अभियोग मिथ्या है।

लोक में समग्र शब्दार्थ-सम्बन्ध अभिधानाभिधेयनियम से जुड़ा हुआ है—इस शब्द का यही अर्थ अभिधेय है। सामान्य के बोधक शब्द के साधारण तथा विशेष शब्द के विशिष्ट अर्थ होंगे। पहले

अर्थे प्रयुज्यन्ते, नाप्रयुक्तपूर्वाः। प्रयोगश्चार्थसम्प्रत्ययार्थः, अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति। तत्रैवमर्थगत्यर्थे शब्दप्रयोगे सामर्थ्यात् सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः। 'अजां ग्रामं नय', 'सर्पिराहर', 'ब्राह्मणं भोजय' इति सामान्यशब्दाः सन्तोऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते। सामर्थ्याद्यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति तत्र प्रवर्तन्ते, नार्थसामान्ये; क्रियादेशनाऽसम्भवात्। एवमयं सामान्यशब्दः 'नवकम्बलः' इति योऽर्थः सम्भवति-'नवः कम्बलोऽस्य' इति, तत्र प्रवर्तते; यस्तु न सम्भवति-'नव कम्बला अस्य' इति, तत्र न प्रवर्तते। सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भस्ते न कल्पत इति॥ १२ ॥

सामान्यच्छललक्षणम्

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यछलम्॥ १३ ॥

'अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसम्पन्नः' इत्युक्ते कश्चिदाह—'सम्भवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसम्पत्' इति। अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसम्भूतार्थकल्पनया क्रियते—यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्सम्भवति व्रात्येऽपि सम्भवेत्, व्रात्योऽपि ब्राह्मणः, सोऽप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्नः। यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तदतिसामान्यम्। यथा-ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं क्वचिदाप्नोति, क्वचिदत्येति। सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यच्छलमिति।

कभी उस अर्थ के लिये प्रयुक्त हुए शब्द ही आज उस अर्थ में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, अपूर्व नहीं; क्योंकि शब्दों का प्रयोग अर्थज्ञान के लिये होता है, अर्थज्ञान से व्यवहार चलता है। इस प्रकार, अर्थज्ञान के लिये शब्दप्रयोग मानने पर प्रकाशक होने से उस अर्थ में सामान्यशब्द का प्रयोगनियम भी मानना उचित है। 'अजा को गाँव ले जाओ', 'घी लाओ', 'ब्राह्मण को खिलाओ' आदि शब्द सामान्य होते हुए अपने अपने किसी एक अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे ये अपनी सामर्थ्य से, जहाँ विशेष अर्थक्रियादेशना सम्भव हो, वहीं प्रवृत्त होते हैं। अर्थसामान्य में क्रियादेशना सम्भव नहीं होती। इस रीति से 'नवकम्बल' यह सामान्यशब्द 'नये कम्बल वाला' इस अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, 'नौ कम्बल वाला' यह अर्थ वक्ता के अभिप्राय में अन्वित नहीं, अतः उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। इसलिये प्रकृत में उपपन्न न होनेवाली अर्थकल्पना से परवादी के वाक्य का उपालम्भ उचित नहीं है॥ १२ ॥

अतिसामान्य योग से सम्भव अर्थ की असम्भव अर्थकल्पना करना 'सामान्यछल' कहलाता है॥ १३ ॥

किसी के 'अहो, यह ब्राह्मण विद्याशीलसम्पन्न है'—ऐसा कहने पर, कोई कहे—'ब्राह्मण में विद्याशीलसम्पन्नता सम्भव है'। इस वचन का विघात अर्थ-विकल्पोपपत्ति द्वारा असम्भूत अर्थकल्पना से करता है—यदि ब्राह्मण में विद्याचरणशीलता सम्भव है तो व्रात्य (संस्काररहित) में भी वह सम्भव क्यों नहीं! क्योंकि व्रात्य भी जाति से तो ब्राह्मण ही है, वह भी विद्याचरणसम्पन्न हो सकता है।

जो धर्म विवक्षित अर्थविशेष को ग्रहण कर ले तथा अतिरिक्त में भी रहे वह 'अतिसामान्य' है। जैसे—'ब्राह्मणत्व' विद्याचरणरूप सम्पत्ति को कहीं ग्रहण भी कर सकता है, कहीं छोड़ कर अतिरिक्त में भी रह सकता है। ऐसा सामान्याश्रित छल 'सामान्यछल' कहलाता है।

अस्य च प्रत्यवस्थानम्—अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः, प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य। तदत्रासंभूतार्थकल्पनानुपपत्तिः। यथा-सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इति। अनिराकृतमविवक्षितं च बीजजन्म, प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्रं प्रशस्यते। सोऽयं क्षेत्रानुवादः, नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति। बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता। एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वम्, न सम्पद्धेतुः; न चात्र हेतुर्विवक्षितः। विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य, सति ब्राह्मणत्वे सम्पद्धेतुः समर्थ इति। विषयं च प्रशंसता वाक्येन यथा हेतुतः फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते। तदेवं सति वचनविघातोऽसम्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यत इति ॥ १३ ॥

उपचारच्छललक्षणम्

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥ १४ ॥

अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः। धर्मविकल्पः=अन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः। तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्देशे[1]। यथा—मञ्चाः क्रोशन्तीति अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः—'मञ्चस्थाः पुरुषा क्रोशन्ति, न तु मञ्चाः क्रोशन्ति'।

का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः? अन्यथा प्रयुक्तस्यान्यथार्थकल्पनम्, भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनमुपचारविषयं छलमुपचारच्छलम्। उपचारो नीतार्थः सहचरणादिनिमित्तेन, अतद्भावे तद्वदभिधानम्=उपचार इति।

इसका प्रतीकार यह है—यहाँ अविवक्षितहेतुत्व रहने से पुरुष का विषया-(संपद्विषया-)नुवाद हुआ है; क्योंकि वाक्य स्तुतिपरक है। अतः यहाँ असम्भूतार्थकल्पना नहीं बनेगी। जैसे—'इस खेत में धान पैदा होता है' इस वाक्य में बीजजन्म न तो निराकृत ही है, न विवक्षित है; अपितु खेत ही प्रवृत्तिविषय है, उसी की प्रशंसा की गयी है। इस वाक्यप्रयोग में उस प्रशस्त क्षेत्र का अनुवादमात्र है; यहाँ धान का विधान नहीं है, न तो बीज से चावल की उत्पत्ति करना है। इसी प्रकार ब्राह्मण में विद्याचरणसम्पद्विषय का अनुवादमात्र किया जाता है, कोई नयी विद्या या शालीनता उसमें अब प्रतिष्ठित नहीं की जाती कि उसे उस सम्पद् का हेतु मानें। वाक्य के प्रशंसार्थक होने से यह विषयानुवादमात्र है—ब्राह्मणत्व के रहते उक्त सम्पद्धेतु होता हुआ वह समर्थ है। विषय की प्रशंसा करता हुआ उक्त वाक्य हेतु से फलसम्पन्नता का प्रत्याख्यान नहीं करता। इस रीति से असम्भूतार्थकल्पना द्वारा वचनविघात वाद में उचित नहीं है ॥ १३ ॥

स्वभावविकल्पनिर्देशक वाक्य में अर्थ की सत्ता का निषेध करना 'उपचारछल' कहलाता है ॥ १४ ॥

यथार्थप्रयोग ही शब्द का स्वभाव है, स्वभाव(धर्म)विकल्प से तात्पर्य है—अन्यत्र दृष्ट का अन्यत्र प्रयोग। उस स्वभावविकल्प के निर्देशक पदप्रयोग (वाक्य) में (अर्थ की सत्ता का निषेध 'उपचारछल' कहलाता है)। जैसे—'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में अभिप्रेतार्थ की सत्ता का निषेध करके 'मञ्चस्थ पुरुष चिल्ला रहे हैं', न कि 'मञ्च चिल्ला रहे हैं'—ऐसा कहना।

यहाँ अर्थविकल्पोपपादन क्या है? अन्य अर्थ में प्रयुक्त की अन्य अर्थकल्पना। गौणार्थ से प्रयुक्त वाक्य में मुख्य अर्थ की कल्पना ही उपचारविषयक छल है, अतः यह 'उपचारच्छल' है।

---

१. वार्तिककृत् 'धर्मविकल्पेन निर्देशे वाक्ये' इत्येवं व्याचष्टे।

अत्र समाधिः—प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा, न च्छन्दतः। प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकसिद्धः। सिद्धे प्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायः, तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा, न च्छन्दतः। यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते? यथाभूतस्याभ्यनुज्ञा, प्रतिषेधो वा, न च्छन्दतः। अथ गुणभूतम्? तदा गुणभूतस्य। यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते, प्रधानभूतमभिप्रेत्य परः प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति न परोपालम्भ इति ॥ १४ ॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्? ॥ १५ ॥

न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते; तस्याप्यर्थान्तरकल्पनाया अविशेषात्। इहापि 'स्थान्यर्थो गुणशब्दः, प्रधानशब्दः स्थानार्थः'—इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यत इति? ॥ १५ ॥

न; तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥

न वाक्छलमेवोपचारच्छलम्; तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्थान्तरभावात्। कुतः? अर्थान्तरकल्पनातः। अन्या ह्यर्थान्तरकल्पना, अन्योऽर्थसद्भावप्रतिषेध इति ॥ १६ ॥

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते; किञ्चित्साधर्म्यात्। यथा चायं हेतुस्त्रित्वं

'उपचार' से तात्पर्य है सहचारादि निमित्त द्वारा अर्थ को अन्यत्र ले जाया जाय। संक्षेप में, 'अतत्त्व में तत्त्वकथन' उपचार कहलाता है।

इस (उपचारछल) का प्रतीकार यह है—शक्य या भाक्त अर्थ में प्रसिद्ध प्रयोग का शब्दार्थ की अभ्यनुज्ञा या उनका निषेध वक्ता के अभिप्रायाधीन होता है, न कि स्वेच्छया। प्रधानभूत (मुख्य) शब्द का गौण या भाक्त उभयविध अर्थ में प्रयोग लोक में देखा जाता है। सिद्ध प्रयोग में जैसा वक्ता का अभिप्राय हो वैसे ही शब्द, अर्थ की स्वीकृति या अस्वीकृति देनी चाहिये, स्वेच्छा से नहीं। जब वक्ता का प्रधानभूत अर्थ में तात्पर्य हो तो मुख्य अर्थ की स्वीकृति या अस्वीकृति देना चाहिये, जब गौण अर्थ अभिप्रेत हो तो गौण की। परन्तु जब वक्ता गौण अर्थ के अभिप्राय से प्रयोग करें और प्रतिवादी प्रधानभूत अर्थ मानकर उसको वाद में रोके तो यह प्रतिवादी का स्वेच्छया (मनमाना) प्रयोग है। इससे वादी का प्रतिषेध करना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

वाक्छल से उपचारच्छल में कोई भेद न होने से उसे वाक्छल ही क्यों न मान लिया जाय? ॥ १५ ॥

वाक्छल से उपचारच्छल में कोई भेद नहीं होता; क्योंकि वाक्छल में भी 'नव' शब्द का 'संख्यार्थक नव' अर्थ कल्पित किया जाता है, इसी प्रकार उपचारच्छल में भी मञ्चस्थपुरुषबोधक 'मञ्च' शब्द को मञ्च अर्थ से कल्पित कर वादी का प्रतिषेध किया जाता है तो उपचारच्छल को भी वाक्छल ही क्यों न मान लें? ॥ १५ ॥

अर्थभेद होने से उपचारच्छल को वाक्छल नहीं कहा जा सकता ॥ १६ ॥

वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं हो सकता; क्योंकि उस उपचारच्छल में अर्थसद्भावप्रतिषेध यह अर्थान्तर (भेद) है। किससे? अर्थान्तरकल्पना से। अर्थान्तरकल्पना दूसरी बात है; तथा जो अर्थ है उसका निषेध करना दूसरी बात। अतः अर्थान्तरकल्पनारूप वाक्छल में अर्थसद्भावप्रतिषेधरूप उपचारच्छल का समावेश नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

कुछ सादृश्य से यदि अविशेष मानेंगे तो एक सामान्यच्छल ही रह जायगा ॥ १७ ॥

प्रतिषेधति, तथा द्वित्वमप्यभ्यनुज्ञातं प्रतिषेधति; विद्यते हि किञ्चित्साधर्म्यं द्वयोरपीति। अथ द्वित्वं किञ्चित्साधर्म्यान्न निवर्तते, त्रित्वमपि न निवर्त्स्यति॥ १७॥

लिङ्गदोषसामान्यप्रकरणम् [१८-२०]

जातिलक्षणम्

अत ऊर्ध्वम्—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः॥ १८॥

प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते स जातिः। स च प्रसङ्गः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानम्=उपालम्भः, प्रतिषेध इति। 'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः' इत्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। 'उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः' इत्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति॥ १८॥

निग्रहस्थानलक्षणम्

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्॥ १९॥

विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः। विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति। निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः।

अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽप्यप्रारम्भः=परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति, प्रतिषेधं वा नोद्धरति।

कुछ सादृश्य होने के कारण छल का द्वित्व स्वीकार कर यदि उसके त्रित्व (तीन प्रकार) का निषेध करते हैं तो जैसे यह सादृश्यहेतु उसके त्रित्व का प्रतिषेध करेगा, उसी तरह उसके द्वित्व का भी निषेध कर सकता है; क्योंकि अवशिष्ट दो (वाक्छल तथा सामान्य छल) में भी तो किञ्चित् सादृश्य है ही। किञ्चित् सादृश्य से यदि द्वित्व निवृत्त नहीं हो पाता तो उस हेतु से त्रित्व भी कैसे निवृत्त होगा! अतः छल को तीन प्रकार का ही मानना चाहिये॥ १७॥

इसके बाद—

सादृश्य या वैसादृश्य द्वारा हेतुप्रतिषेध 'जाति' कहलाता है॥ १८॥

(छल में साधर्म्य-वैधर्म्य नहीं होते, साधर्म्य या वैधर्म्यमात्र से सम्यक् प्रतिषेध किया भी नहीं जा सकता, बल्कि प्रयोग से किया जा सकता है। इसलिये) हेतु का साधर्म्य वैधर्म्य से जो प्रसङ्ग होता है वह 'जाति' कहलाता है। वह प्रसङ्ग साधर्म्य या वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान=उपालम्भ अर्थात् प्रतिषेध कहलाता है। उदाहरणसाधर्म्य से साध्यसाधक हेतु का उदाहरणवैधर्म्य से प्रतिषेध करना अथवा उदाहरणवैधर्म्य से साध्यसाधक हेतु का उदाहरणसाधर्म्य से प्रतिषेध करना संक्षेप में विरोधी रूप से उत्पन्न अर्थ 'जाति' है॥ १८॥

विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति 'निग्रहस्थान' कहलाता है॥ १९॥

विपरीत या निन्दित प्रतिपादन 'विप्रतिपत्ति' होता है, इस तरह विप्रतिपद्यमान पुरुष वाद में पराजय प्राप्त करता है। पराजय-प्राप्ति ही 'निग्रहस्थान' है।

'अप्रतिपत्ति' उसे कहते हैं कि वादी आवश्यक विषय में भी आरम्भ न करे अथवा प्रतिवादी

असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति॥ १९॥

किं पुनर्दृष्टान्तवज्जातिनिग्रहस्थानयोरभेदः? अथ सिद्धान्तवद्भेदः? इत्यत आह—

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्॥ २०॥

तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वम्, तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वम्। नानाकल्पः=विकल्पः। विविधो वा कल्पः=विकल्पः। तत्राननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्-इत्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानम्। शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति॥

इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिता यथालक्षणं परीक्षिष्यन्त इति त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्वेदितव्येति॥ २०॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्॥

॥ समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः॥

द्वारा स्थापित पक्ष का खण्डन या मण्डन न करे। यहाँ द्वन्द्व समास न करने में अभिप्राय यह है कि ये ही दो निग्रहस्थान नहीं हैं, अपितु अन्य भी हैं॥ १९॥

क्या पूर्वोक्त 'दृष्टान्त' की तरह जाति और निग्रहस्थान में अभेद है या 'सिद्धान्त' की तरह उनमें भेद है? इसपर सूत्रकार कहते हैं—

उनके अनेक विकल्पों के कारण जाति और निग्रहस्थान बहुत से हैं॥ २०॥

उस 'साधर्म्य वैधर्म्य से प्रतिषेध' रूप जाति के बहुत से विकल्प होने के कारण जाति अनेक प्रकार की है। इसी तरह विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान के भी अनेक विकल्प होने के कारण वह भी अनेक प्रकार का है। नाना या विविध कल्पनाएँ जिसमें हों, वह 'विकल्प' कहलाता है। उनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विशेष, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्य की उपेक्षा—ये अप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान हैं, शेष विप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान हैं।

इन प्रमाणादि पदार्थों के उद्देश व लक्षण किये जा चुके; अब लक्षणानुसारी परीक्षा आगामी अध्याय में की जायगी—शास्त्र की यही त्रिधा प्रवृत्ति समझनी चाहिये॥ २०॥

वात्स्यायनीयन्यायभाष्यसहित न्यायदर्शन के प्रथमाध्याय का द्वितीयाह्निक समाप्त॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त॥